An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

सत्राची

वर्ष 9, अंक 33,
सितम्बर-दिसम्बर, 2021

संपादक
आनन्द बिहारी

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

SATRAACHEE

ISSN : 2348-8425

सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष 9, अंक 33, सितम्बर-दिसम्बर, 2021

संरक्षक
चंद्रावती सिंह
तेलानी मीना हेरो
दिलीप राम

प्रधान संपादक
कमलेश वर्मा

संपादक
आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक
सुचिता वर्मा, आशुतोष पार्थेश्वर

सह-संपादक
जयप्रकाश सिंह

संपादन सहयोग
हुस्न आरा, भावना मिश्रा

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल
मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, राजू रंजन प्रसाद, अंजय कुमार, सुचिता वर्मा,
आशुतोष पार्थेश्वर, पुष्पलता कुमारी, अरविन्द कुमार, नीरा चौधुरी।

SATRAACHEE

Peer Reviewed and Refereed Research Journal

मूल्य : ₹ 200

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक : 4000 रुपए (व्यक्तिगत)
: 10000 रुपए (संस्थागत)
आजीवन : 10,000 रुपए (व्यक्तिगत)
: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक द्वारा सदस्यता शुल्क भेजने के लिए खाते का विवरण :
ANAND BIHARI, A/C No.: 38557011778
IFSC : SBIN0006551, Boring Canal Rd.-Rajapool,
East Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

प्रकाशक : सत्राची फाउंडेशन, पटना

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी
केशव कुंज, निचला तल्ला
बॉलिया चौक, सलिमपुर अहरा,
कदमकुआँ, पटना, बिहार, पिन : 800003
website : http://satraachee.org.in
E-mail : satraachee@gmail.com
: editor.satraachee@gmail.com
Mob. : 9661792414, 9470738162 (A.Bihari.)
: 9415256226 (Kamlesh Verma.)

❖❖❖

इस अंक में...

संपादकीय

05 :: आलोचना की जिम्मेदारी *कमलेश वर्मा*

आलेख

09 :: रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि *गोपेश्वर सिंह*
17 :: रेणु : कर्तृत्व और कृतित्व चितरंजन भारती
34 :: स्त्री-सघर्ष का लोक निर्मित स्वरूप *संगीता मौर्य*
40 :: प्रेमचंद की कहानियों में खेलों का महत्त्व *कृष्ण वीर सिंह सिकरवार*
49 :: लघु पत्रिका 'उत्तरार्द्ध' में सांप्रदायिकता विमर्श *सुरेश चंद्र*
60 :: माधवराव सप्रे की समालोचकीय दृष्टि *प्रतिभा प्रसाद*
64 :: रघुवीर सहाय की कविता का वैचारिक आधार *ब्रज बिहारी पांडेय*
72 :: जहाँ स्वप्न भी यथार्थ है *चंद्रबिंद सिंह*
77 :: गीतिकाव्य *अरविंद कुमार*
82 :: राहुल सांकृत्यायन का वैचारिक चिंतन *रानी सिंह*
87 :: प्रेमचंद और राष्ट्रीय आंदोलन *चुम्मन प्रसाद*
92 :: हिंदी में कोश-रचना की परंपरा *राजकुमार*

पुस्तक समीक्षा

97:: कवि का विश्व : एक विहंगावलोकन *कपिल देव*
101 :: दलित आंदोलन में मनुवादी दलितों की नकारात्मक भूमिका *हरिराम*

किताबों की चर्चा

104 :: 'आप बीती : तैमूरलंग', *'चाणक्य के जासूस'* 'डुमराँव नजर आएगा' और 'रंगायो जोगी कपड़ा' *कमलेश वर्मा*

Research Paper

111 :: *Role of Media & Panchayat in Covid-19: A Sociologycal Analysis* *Ghanshyam Kushwaha* *Ramod Kumar Maurya*

* * *

> इस कदर वाकिफ है मेरी कलम मेरे जज़्बातों से,
> अगर मैं इश्क़ लिखना भी चाहूँ तो इंकलाब लिखा जाता है।
>
> – भगत सिंह

प्रधान संपादक की कलम से...

आलोचना की जिम्मेदारी

आलोचना की मौजूदा स्थितियों से असंतोष प्रकट करने की प्रवृत्ति इधर के दिनों में बढ़ी है। रचनात्मक लेखन करनेवालों की संख्या हमेशा की तरह आज भी ज्यादा है। कविता और कथा साहित्य की पुस्तकों में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई है। प्रकाशन की निरंतर बढ़ती सुविधाओं के कारण आज का लेखक अप्रकाशित रह जाने के दु:ख से मुक्त हो चुका है। सोशल मीडिया और इंटरनेट पर अब कई प्रकाशक ऑफर दे रहे हैं कि आप निर्धारित शुल्क देकर अपनी किताब को अत्यंत सुन्दर ढंग से छपवा सकते हैं। इन पुस्तकों का प्रोडक्शन बहुत अच्छा हुआ करता है। लेखक को शर्त के अनुसार कुछ प्रतियाँ मिल जाती हैं और वह संतुष्ट हो जाता है कि उसकी लिखी हुई चीज छपकर उसके हाथों तक पहुँच गयी।

प्रकाशन का यह सर्वसुलभ रूप कई अर्थों में स्वागतयोग्य है। अब केवल वही लेखक अप्रकाशित रह जाएगा जिसे नि:शुल्क प्रकाशित करने को कोई प्रकाशक तैयार न हो! ऐसे लेखकों में कोई ऐसा लेखक भी हो सकता है जो सचमुच योग्य हो, मगर उसकी पहचान उसके रहते भर में नहीं हो पा रही हो! अपने लेखन से लोगों को परिचित कराने के अन्य आसान उपाय भी आज मौजूद हैं। फेसबुक, ट्विटर, ई-पत्रिका, ब्लॉग, ई-मेल ग्रुप, व्हाट्सएप्प आदि की सहायता से बड़ी मात्रा में लिखित सामग्री संचरित हो रही है।

इन सबके बावजूद गंभीर पुस्तकों के लिए गंभीर प्रकाशकों की जरूरत आज भी बनी हुई है। जितनी तेजी से प्रकाशन हो रहा है उतनी ही तेजी से उन्हें भुला भी दिया जा रहा है। पद, प्रतिष्ठा और प्रचार की सहायता से पुस्तकों के बारे में माया रचकर साहित्य के आकाश में छा जानेवाले लेखक अब ढेर सारे हो गए हैं। जब तक पुस्तक पढ़ी जाती है और समीक्षित होती है तब तक प्रचार-प्रसार के बल पर उसकी मार्केटिंग फैल चुकी होती है। इसका नुकसान उठाना पड़ता है गंभीर पुस्तकों को! माया रचने में असफल रहनेवाली गंभीर पुस्तकें प्राय: समय की प्रतीक्षा-सूची में पंक्तिबद्ध होने को विवश हो जाती हैं।

इन सब पर लगाम लगाने का काम आलोचना करती है। आलोचना की जिम्मेदारी है कि वह लेखन का मूल्यांकन करे और उसकी सीमा-शक्ति को उजागर करे! ऐसा कहते हुए भी लोग सुने जाते हैं कि मेरी रचना को किसी आलोचक की जरूरत नहीं! मेरी रचना के महत्त्व का निर्धारण पाठक करेंगे। यह बात एक हद तक सही है। यदि पाठक को रचना ठीक लगेगी तो वह पढ़ेगा ही, यह उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता है। मगर साहित्य के इतिहास में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं कि वही रचना लंबे समय तक टिकाऊ होती है जो पाठकप्रिय हो और आलोचना की कसौटी पर भी खरी उतरी हो। 'गोदान' या 'मैला आँचल' को पाठक भी मिले और सहमति-असहमतिपरक आलोचक भी! इन दोनों पक्षों से गुजरकर ही ये दोनों उपन्यास कालजयी की कोटि तक पहुँच पाए!

पाठकीय प्रतिक्रियाओं से प्रसन्न हो जानेवाले लेखकों को आलोचना की प्रक्रिया से गुजरने से परहेज नहीं करना चाहिए। लेखक का सबसे बड़ा मित्र पाठक है और सबसे बड़ा हितैषी आलोचक! आलोचना गुणों की पहचान करती है तो उन गुणों की सीमाओं को भी बताती है। लेखक के लिए बहुत जरूरी है कि वह अपनी रचना की सीमाओं को जाने! 'पाखी' के संपादन से जुड़े पंकज शर्मा ने बातचीत में चिंता व्यक्त की कि आजकल पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाएँ केवल प्रशंसात्मक होती हैं। उन्हें पढ़कर लगता है कि आजकल छपनेवाली पुस्तकें निर्दोष हैं। आलोचना का उपयोग पुस्तकों के परिचय और प्रचार-प्रसार के लिए होने लगा है। यह स्थिति ठीक नहीं है।

इन सबका प्रभाव यह पड़ा है कि पाठकों को मार्ग दिखानेवाली कोई चीज साहित्य में रह नहीं गयी है। आलोचना के नाम पर उसे या तो प्रशंसा पढ़ने को मिलती है या विध्वंसक शैली में लिखे आलेख पढ़ने को मिलते हैं। इन दोनों में से किसी पर विश्वास नहीं हो पाता है। आलोचना का सूत्रवाक्य रहा है कि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'। आलोचना असंख्य रचनाओं के बीच से कुछ को संग्रह के योग्य समझती है और कुछ को त्यागने के योग्य! 'संग्रह' और 'त्याग' के कारणों का खुलासा करती हुई वह आलोचना यह भी बताती है कि जिनका संग्रह उसने किया है उनकी विशेषताओं की सीमाएँ कहाँ पर हैं।

मूलत: आलोचना को प्रकाशित करनेवाली 'सत्राची' और दूसरी पत्रिकाओं का यह दायित्व है कि हिन्दी आलोचना के स्तर में निरंतर उन्नयन का प्रयास किया जाए। यह काम किसी एक व्यक्ति या पत्रिका के वश का नहीं है। इस तरह का माहौल तैयार हो कि अच्छी और सच्ची आलोचना विवेकपूर्वक लिखी जा सके और धैर्यपूर्वक पढ़ी जा सके! प्रशंसात्मक आलोचना के प्रचलन का एक प्रभाव यह भी होता है कि लेखक उन आलोचकों से नाराज हो जाता है जो उसकी रचनाओं की किसी भी कमी का उल्लेख कर देते हैं। रामचंद्र शुक्ल की लिखी हुई आलोचनाओं में प्राय: गुण-दोषों का सम्यक विवेचन हुआ है। जिन कवियों के बारे में उन्होंने छोटी-छोटी टिप्पणी की है उनमें भी शुक्लजी के इस तरीके को देखा जा सकता है।

'सत्राची' का यह 33 वाँ अंक है। इसमें पहला लेख गोपेश्वर सिंह का है, 'रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि'। इस लेख में रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि की विशेषताओं को रखा गया है तो उनकी सीमाओं को भी। गोपेश्वरजी लिखते हैं, "प्रयोगवाद, नयी कविता और प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य के मूल्यांकन में उनकी आलोचकीय गति और मति शिथिल पड़ने लगती है।"

चितरंजन भारती का एक लंबा लेख रेणु पर प्रकाशित है, 'रेणु : कर्तृत्व और कृतित्व'। फणीश्वरनाथ रेणु के जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में 2021-22 में बहुत कुछ लिखा और बोला गया। फिर भी यह लेख रेणु से सम्बंधित ऐसी बातों को हमारे सामने रखता है जो अब तक पढ़ने को नहीं मिला था। 1871 में जन्मे माधवराव सप्रे को हमलोग 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी के लेखक के रूप में प्राय: याद करते हैं। 2021 में उनके जन्म की 150वीं जयंती है। सप्रे जी ने आलोचना भी लिखी थी। मगर हिन्दी के आलोचक के रूप में माधवराव सप्रे की चर्चा प्राय: नहीं होती है। प्रतिभा प्रसाद का एक लेख प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें सप्रे जी की आलोचना-दृष्टि पर बात की गयी है।

अंक - 30 में संगीता मौर्य का एक लंबा आलेख प्रकाशित हुआ था - 'काशी की तवायफ परंपरा और 'सेवासदन'। इस बार उनका आलेख है, 'स्त्री-संघर्ष का लोक निर्मित स्वरूप'। पिछले लेख की तरह इसमें भी उन्होंने परिश्रमपूर्वक सामग्री जुटाई है। लोकगीतों के जिन पाठों को उन्होंने इस लेख में रखा है वे

किसी पुस्तक से नहीं लिए गए हैं। उन गीतों को संगीता ने अपने जीवन-व्यवहार से प्राप्त किया है। उन गीतों के आशय ग्रहण करते समय भी उनकी सामाजिक सचेतता बनी हुई है।

सुरेश चंद्र का लेख 'उत्तरार्द्ध' पत्रिका के 1987 से 1994 के बीच प्रकाशित कुछ अंकों को आधार बनाकर लिखा गया है। इसके विभिन्न अंकों में प्रकाशित साम्प्रदायिकता विरोधी लेखों का उल्लेख करते हुए सुरेश जी ने यह बताना चाहा है कि हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक मिजाज सांप्रदायिक विचारों से सदैव लोहा लेता रहा है। आज जबकि धर्म-निरपेक्षता की सैद्धांतिकी और राजनीति घोर संकट के बीच से गुजर रही है सुरेश जी का यह लेख साहसपूर्ण मालूम पड़ता है। वे लिखते हैं, "साम्प्रदायिकता का विरोध इस पत्रिका के यशस्वी संपादक सव्यसाची के लिए वरीय मुद्दा रहा है। उन्होंने इस पत्रिका में न केवल साम्प्रदायिकता विरोधी रचनाओं के साथ साम्प्रदायिकता केन्द्रित विचारपरक सैद्धांतिक लेख प्रभूत संख्या में प्रकाशित किए, बल्कि इसका साम्प्रदायिकता विरोधी अंक भी प्रकाशित किया है। साम्प्रदायिकता केन्द्रित विचारपरक सैद्धांतिक लेखों में साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों की मानवीय सरोकारों से संबद्ध विचारधारा अभिव्यक्त हुई है।"

विभिन्न शोध-आलेखों से बने इस अंक में इस बार से एक नया प्रयोग किया जा रहा है - 'किताबों की चर्चा'। 'सत्राची' के इस अंक से लेकर आगामी अंकों में भी कुछ किताबों की संक्षिप्त चर्चा प्रकाशित की जाएगी। इस बार चार पुस्तकों को शामिल किया गया है- 'आपबीती: तैमूरलंग', 'चाणक्य के जासूस', 'डुमराँव नजर आएगा', 'रंगायो जोगी कपड़ा'। इस चर्चा का उद्देश्य है कि इधर के वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों से पाठकों का परिचय हो सके और उनके गुण-दोषों की जानकारी मिल सके।

आशा है, पहले की तरह यह अंक भी आपको अच्छा और उपयोगी लगेगा!

सादर

कमलेश वर्मा

> “
>
> किसी को ‘क्रांति’ शब्द की व्याख्या शाब्दिक अर्थ में नहीं करनी चाहिए। जो लोग इस शब्द का उपयोग या दुरूपयोग करते हैं उनके फायदे के हिसाब से इसे अलग अलग अर्थ और अभिप्राय दे दिए जाते हैं।
>
> – भगत सिंह

आलेख

रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि

❍ गोपेश्वर सिंह

सुनते हैं कि रूसी भाषा के महान लेखक लेव तोलस्तोय का सम्पूर्ण साहित्य 90 खंडों में प्रकाशित है। इधर चर्चा है कि रामविलास शर्मा का सम्पूर्ण लेखन 45 खंडों में प्रकाशित हो रहा है। हिंदी में इतने अधिक खंडों में किसी भी लेखक-आलोचक की ग्रंथावली नहीं है। इतनी विपुल संख्या में लिखा हुआ साहित्य न सिर्फ रामविलास जी की लेखकीय प्रतिबद्धता का, बल्कि उनके व्यापक मानवीय-साहित्यिक सरोकार का द्योतक माना जाएगा।

कविता, आलोचना, निबंध, जीवनी, आत्मचरित आदि कई विधाओं में रामविलास शर्मा का साहित्यिक लेखन दिखाई देता है। साहित्य के अलावा भाषा विज्ञान, इतिहास, दर्शनशास्त्र, संगीत आदि अन्य अनुशासनों में भी उन्होंने लेखन कार्य किया है। उनके लिखे हुए ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि उनका अध्ययन बहुत व्यापक था। वे बहु-अनुशासनात्मक ज्ञान के धनी लेखक थे। हालाँकि, उनके लेखन कार्य को उन अनुशासनों के विद्वान वह महत्त्व नहीं देते जो उन्हें दिया जाना चाहिए। रामविलास शर्मा उनके लिए लिख भी नहीं रहे थे। उनके सामने हिंदी भाषी जनता थी जिसे शिक्षित करने का काम उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कई हिंदी लेखकों की तरह किया। वे अकादमिक जगत के विद्वानों के नहीं, हिंदी भाषी जनता के लेखक थे।

कई विधाओं और कई अनुशासनों में लिखने के बावजूद रामविलास शर्मा की मूल पहचान हिंदी साहित्य के इतिहासकार-आलोचक की है। उन्होंने हिंदी साहित्य का इतिहास नाम से कोई पुस्तक नहीं लिखी, लेकिन जो उनका व्यापक आलोचना-कर्म है वह हिंदी साहित्य के इतिहास की नयी प्रस्तावना प्रस्तुत करता है और रामचंद्र शुक्ल की इतिहास-दृष्टि को विस्तृत करते हुए मजबूती प्रदान करता है। उन्होंने अनेक अवधारणात्मक पद दिए हैं जो हिंदी साहित्य के इतिहास को देखने का नया आधार प्रदान करते हैं। आज हिंदी पाठक का अपने साहित्य इतिहास के संबंध में जो कॉमन सेन्स है, वह बहुत हद तक रामविलास शर्मा का बनाया हुआ है। 'लोक जागरण', 'हिंदी नवजागरण', 'हिंदी जाति' आदि पद प्रचलित करने वाले और इन दृष्टियों से हिंदी साहित्य को देखनेवाले रामविलास शर्मा ने न सिर्फ हिंदी आलोचना साहित्य को समृद्ध किया है, बल्कि हिंदी साहित्य के इतिहास को नया आधार भी दिया है।

भक्तिकाल से लेकर छायावाद तक साहित्य का जो वस्तृत काल खंड है, उसको देखने की व्यापक दृष्टि रामविलास शर्मा ने तैयार की है। इस दृष्टि के निर्माण में 'लोक जागरण' और 'नव जागरण' जैसी दृष्टियों का बड़ा हाथ है। वे भारतेंदु युग से पहले के साहित्य को 'लोक जागरण' की दृष्टि से देखते हैं तो भारतेंदु युग से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, 'निराला', 'प्रसाद', माखनलाल

चतुर्वेदी, रामवृक्ष 'बेनीपुरी' आदि के साहित्य को नवजागरण के आधार पर देखने की जमीन तैयार करते हैं। 'लोक जागरण' और 'नवजागरण' की चेतना से संपन्न होकर हिंदी समाज विकास की दिशा में आगे बढ़ा है और बढ़ेगा, यह आलोचक रामविलास शर्मा की मुख्य चिंता है। 'लोक जागरण' के भीतर मूल रूप से सामंतवाद विरोधी और 'नव जागरण' के भीतर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद विरोधी चेतना भरी हुई है। इनके आधार पर शोषण मूलक व्यवस्थाओं को हटाकर समता मूलक समाज निर्मित किया जा सकता है, यह उनकी मूल स्थापना है।

लोक जागरण की चेतना आगे चलकर नवजागरण चेतना में परिवर्तित होती है और उसकी चिंताधारा अधिक व्यापक होती है। लोक जागरण का संबंध मुख्य रूप से भक्ति साहित्य से है, जबकि हिंदी नवजागरण का संबंध भारतेंदु युग और उसके बाद के साहित्य से है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ' में रामविलास जी ने लिखा है, "*भारतेंदु युग उत्तर भारत में जन जागरण का पहला या प्रारंभिक दौर नहीं है; वह जन जागरण की पुरानी परंपरा का एक खास दौर है। जन जागरण की शुरुआत तब होती है जब यहाँ बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है, जब यहाँ के विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है। यह सामंत विरोधी जन जागरण है।*" (पृष्ठ-13)

सामंत विरोधी इस जन जागरण का संबंध भक्तिकाल से है जिसे रामविलास जी लोक जागरण कहते हैं। भारतेंदु युग उसी पुराने जन जागरण का 'एक खास दौर' है। इसके खास होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि इसका संबंध प्लासी युद्ध से शुरू होकर 1857 के व्यापक स्वतंत्रता संग्राम से है। रामविलास जी के शब्दों में, 'यह साम्राज्यवाद विरोधी जन जागरण है। भारतेंदु युग इस जागरण से जुड़ा हुआ है।' (वही)

कुछ लोग मानते हैं कि 1857 का संघर्ष देशी सामंतों का अपने स्वार्थ के लिए किया गया संघर्ष था। ऐसे लोग 1857 के संघर्ष को स्वतंत्रता संग्राम नहीं मानते। ऐसे लोग यह भी मानते हैं कि 'भारतेंदु युगीन साहित्य की मुख्य धारा अंग्रेजी राज के प्रति भक्ति भाव से प्रेरित थी; ऐसे लोगों के लिए 1857 से भारतेंदु युग को जोड़नेवाला कोई सूत्र हो ही नहीं सकता।' (वही) ऐसे लोगों को जवाब देते हुए रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक में विस्तार से 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का संबंध नये जन जागरण से जोड़ा है और उसे 'हिंदी नवजागरण' का नाम दिया है। उनका मानना है कि 1857 की लड़ाई आम जन ने, खास तौर से किसानों ने लड़ी। उस संघर्ष के दौरान विकसित हुई साम्राज्यवाद विरोधी चेतना भारतेंदु और उस काल के लेखकों के चिंतन का मुख्य आधार बनी। यही दौर है जब हिंदी भाषा का जातीय भाषा के रूप में पूर्ण विकास हुआ और हिंदी जाति का गठन मजबूत हुआ। इस प्रक्रिया का गहरा संबंध हिंदी नवजागरण से है।

भक्तिकाल संबंधी रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि निर्गुण और सगुण जैसी परस्पर विरोधी भक्ति धाराओं के आधार पर बनी है। वे निर्गुण पंथ और निर्गुण पंथियों के प्रति किंचित अनुदार हैं। उनके 'लोकमंगल' के दायरे में सगुणपंथ और तुलसीदास का ही महत्त्व है। रामविलास शर्मा भक्तिकाल के उदय में 'लोक जागरण' की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं जो मूल रूप से सामंतवाद विरोधी है और जिसकी मूल चेतना प्रेम की है। इसलिए रामविलास शर्मा किसी निर्गुण-सगुण और कबीर-तुलसी संबंधी विवाद में नहीं पड़ते। वे मानते हैं कि भक्ति-काव्य की केन्द्रीय धारा प्रेम की है और इस कारण कबीर और तुलसी दोनों 'प्रेममार्गी' कवि हैं। रामविलास शर्मा कबीर और तुलसी को आमने-सामने करके भिड़ंत कराने वाली जो विमर्शजनित आलोचना है उससे इत्तेफाक नहीं रखते। भक्त कवियों में मानव मात्र को जोड़ने वाले एकता के जो सूत्र हैं वे उन पर जोर देते हैं। एकता के वे सूत्र व्यापक रूप में प्रेम की भावधारा से सिंचित हैं। रामविलास जी के अनुसार भक्ति आंदोलन के केंद्र में यही भावधारा सबसे मजबूत है। उसमें कुछ भिन्नता भी है, लेकिन

उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और मजबूत आधार प्रेम का है, यह भक्ति आंदोलन की केन्द्रीय चिंता धारा है। इसलिए रामविलास शर्मा भक्ति आंदोलन को निर्गुण-सगुण विभाजनों के जरिए समझने वाली इतिहास और आलोचना दृष्टि का विरोध करते हैं और उसकी जगह नया आधार प्रस्तावित करते हैं। वह आधार- 'योग बनाम भक्ति' का है। इसी के साथ वे भक्ति आंदोलन जैसे महान सांस्कृतिक आंदोलन को 'कनफटे योगियों का मोहताज' बताई जाने वाली धारणा का विरोध करते हैं।

भारतीय नवजागरण के संदर्भ में बंगला नवजागरण, मराठी नवजागरण आदि की चर्चा होती है। यह मानकर चला जाता है कि हिंदी प्रदेशों में नवजागरण की जो छिटपुट चेतना आई, वह बंगाल से होकर आई और वह उसकी शाखा मात्र है। यह धारणा व्यापक स्तर पर फैली हुई थी। रामविलास शर्मा ने उसका प्रत्याख्यान किया और 'हिंदी नवजागरण' जैसी अवधारणा की बात की। इस हिंदी नवजागरण का संबंध उन्होंने 1857 के 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' से जोड़ा और हिंदी की आधुनिक मनीषा को स्वतंत्र पहचान दी। रामविलास शर्मा का मानना है कि 1857 का 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' मुख्य रूप से हिंदी प्रदेशों की जनता ने लड़ा, जिसमें साम्राज्यवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी चेतना सक्रिय रूप से काम कर रही थी। इस चेतना के आलोक में ही हिंदी नवजागरण का विकास हुआ और भारतेंदु हरिश्चंद्र इसी हिंदी नवजागरण के अग्रदूत थे। अपने प्रिय कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के बारे में रामविलास शर्मा का कथन है: "*जैसे 1857 का कोई वीर सेनानी युद्ध छोड़कर साहित्य के मैदान में चला आया हो।*" इस पर टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है, "*ज्यादा सही है कि यह वीर सेनानी रामविलास शर्मा स्वयं हैं। योद्धा के रूप में उनकी ख्याति तो है ही, विशेष रूप से उल्लेखनीय है 57 के स्वाधीनता संग्राम से उनका गहरा लगाव। सन् 57 जैसे उनके समस्त चिंतन की धुरी है और है उनके वैचारिक संघर्ष का बीज भाव।*" (केवल जलती मशाल, संकलित निबंध : 194)

अपने वैचारिक संघर्ष के इस बीज भाव को लेकर रामविलास शर्मा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल, 'प्रसाद', 'निराला', माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष 'बेनीपुरी' आदि का मूल्यांकन किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचंद तक आकर सामंतवाद और साम्राज्यवाद विरोधी जो हिंदी नवजागरण की चेतना है, उसमें वर्ग दृष्टि का समावेश होता है और पूँजीवाद विरोध भी उसमें शामिल हो जाता है। रामविलास शर्मा के सम्पूर्ण लेखन में यह चेतना काम करती है।

रामविलास शर्मा मार्क्सवादी हैं। जीवन और जगत को देखने का उनका नजरिया भौतिकवादी है। वे अपने सम्पूर्ण लेखन के जरिए भौतिकवाद को प्रतिष्ठित करते हैं, भारतीय वांग्मय में भौतिकवादी चिंतन और साहित्य की परंपरा को रेखांकित करते हुए भाववाद को खारिज करते हैं। वे किसी भी धार्मिक, आध्यात्मिक और दैवीय शक्ति में भरोसा नहीं करते और भौतिकवादी दृष्टि से साहित्य, समाज और संसार की व्याख्या करते हैं। उनका कथन है, "*वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज। मस्तिष्कहीन विचार और चेतना का अस्तित्व केवल कल्पना की वस्तु है। भौतिकता से परे चेतना का निवास नहीं है।*" (यथार्थ जगत और साहित्य, 'आस्था और सौंदर्य' : 15)

वे 'गोचर सौंदर्य' की सत्ता स्वीकार करते हैं। उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि की भूमिका को भी स्वीकार करते हैं, जिससे मनुष्य का ऐन्द्रिय बोध निर्मित होता है। इसी ऐन्द्रिय बोध के साथ मनुष्य का भाव जगत है। रामविलास जी के अनुसार, "*भाव जगत व्यक्ति के मन में ही होता है, किन्तु उसका परिष्कृत और समृद्ध रूप सामाजिक विकास और सामाजिक जीवन में ही संभव हुआ है। भाव जगत का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक - दोनों ही कोटि की अनुभूतियाँ हैं। इन दोनों ही कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य*

का सामाजिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक-दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं; भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण एक-दूसरे के निकट आते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण के सिद्धांत द्वारा इस भाव जगत की सामान्य अनुभूति-भूमि की ओर संकेत किया, यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है।" (सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास, 'आस्था और सौंदर्य', : 30)

मार्क्सवाद और भौतिकवाद में गहरी आस्था के कारण रामविलास जी भाववादी दर्शन का विरोध करते हैं और इसी कारण साहित्य में रहस्यवाद का भी। उनका यह भी मानना है कि भाववाद व्यक्तिवादी विचारधारा का उत्स है और भौतिक सचाई की प्राय: अनदेखी करता है। वे लिखते हैं, "*व्यक्तिवादी विचारधारा क्षीण होकर निर्जीव, विकृत, अस्वस्थ, यथार्थ-विरोधी रचनाओं की सृष्टि कर रही है। यथार्थवादी विचारधारा मनुष्य के सर्वांगीण विकास के उद्देश्य से ऐसी रचनाएँ करने की ओर प्रवृत्त है जिससे हमारी सामाजिक चेतना प्रखर हो, और हमारी सौन्दर्यबोध की वृत्तियाँ भी संतुष्ट हों। आधुनिक हिंदी साहित्य की मूल धारा भी हमें इसी ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।"* (यथार्थ जगत और साहित्य, 'आस्था और सौंदर्य' : 25)

भारत जैसे प्राचीन सभ्यता-संस्कृति वाले देश में अपनी परंपरा के मूल्यांकन की समस्या सबसे बड़ी है। बहु धार्मिक, बहु जातीय, बहु भाषीय और बहु सांस्कृतिक समाज के साहित्य की लम्बी परंपरा का मूल्यांकन कठिन काम है। प्रगतिशील आंदोलन की शुरुआत में परंपरा को देखने की उसकी दृष्टि बहुत संकीर्ण थी। प्राचीन साहित्य और मध्यकालीन साहित्य को लेकर प्रगतिशील आंदोलन का नकारात्मक रवैया था। उस नकारवादी माहौल के भीतर रामविलास शर्मा ने परंपरा के मूल्यांकन का काम शुरू किया और उसे अंजाम तक पहुँचाया। परंपरा के मूल्यांकन के प्रश्न पर विचार करते हुए रामविलास जी ने लिखा, "*...साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन करते हुए सबसे पहले हम उस साहित्य का मूल्य निर्धारित करते हैं जो शोषक वर्गों के विरुद्ध श्रमिक जनता के हितों को प्रतिबिंबित करता है। इसके साथ हम उस साहित्य पर ध्यान देते हैं जिसकी रचना का आधार शोषित जनता का श्रम है, और यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वर्तमान काल में जनता के लिए कहाँ तक उपयोगी है और उसका उपयोग किस तरह हो सकता है। इसके अलावा जो साहित्य सीधे सम्पत्तिशाली वर्गों की देख-रेख में रचा गया है और उसके वर्ग हितों को प्रतिबिंबित करता है, उसे भी परखकर देखना चाहिए कि यह अभ्युदयशील वर्ग का साहित्य है या ह्रासमान वर्ग का।"* (परंपरा का मूल्यांकन : 10-11)

प्रगतिशील आंदोलन के प्रथम घोषणा पत्र में पुराना साहित्य और भक्त कवि 'निस्तेज' और 'निष्प्राण' बताए गए थे। रामविलास शर्मा ने इस नकारवादी प्रवृत्ति के खिलाफ संघर्ष किया। उन्होंने कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत कवियों के साथ भक्तिकाल के तुलसीदास एवं अन्य कवियों की सकारात्मक व्याख्या की। यही नहीं, ऋग्वेद का भी मूल्यांकन करते हुए उसमें उन्होंने 'श्रम संस्कृति' का महत्त्व प्रतिपादित किया। संभवत: रामविलास शर्मा के परंपरा संबंधी मूल्यांकन को ही ध्यान में रखते हुए प्रगतिवाद की आलोचना करनेवाले आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा, "*...प्रगतिवाद का नेतृत्व दूरदर्शी मनस्वी कर रहे थे और उन्होंने इस धारा को मरुभूमि में जाकर अपने को खत्म करने से बचा लिया। प्रगतिवाद की परंपरा हिंदी के प्राचीन साहित्य से जोड़ी गई। तुलसीदास भक्तों के या पुराणपंथी आलोचकों के ही कंठाहार नहीं रह गए, आज के बुद्धिवादी प्रगतिशील समालोचकों ने भी उनकी महत्ता सादर, साभार स्वीकृत की और छायावाद की भी अपने समय की दृष्टि से सार्थकता मान ली। जो साहित्यिक अपने को आधुनिक कहते थे किन्तु*

जिनके पास कोई विशिष्ट ध्येय नहीं था, कला की कोई खास कसौटी नहीं थी, उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि प्रगतिवादियों ने यह कौन-सा रुख अख्तियार कर लिया; जो लोग प्रगतिवाद से बहुत आशा रखते थे, किन्तु उसके वर्तमान रूप से क्षुब्ध हो गए थे, उन्हें इस रूप से संतोष हुआ और प्रगतिवाद को प्रतिष्ठित क्षेत्रों में भी प्रश्रय मिला।" (छायावाद और प्रगतिवाद, संकलित निबंध : 37-38)

यह सब लिखने के बाद नलिन जी ने जब प्रगतिशील साहित्य को 'हिंदी की जागरूकता का सन्देश वाहक' कहा तो उनके ध्यान में अवश्य ही रामविलास शर्मा जैसे प्रगतिशील आलोचक थे।

परंपरा के मूल्यांकन की समस्या आई तो रामविलास शर्मा के सामने प्रश्न यह था कि परंपरा को देखने की दृष्टि क्या हो? उन्होंने लिखा, "*...साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन करते हुए सबसे पहले हम उस साहित्य का मूल्यांकन निर्धारित करते हैं जो शोषक वर्गों के विरुद्ध श्रमिक जनता के हितों को प्रतिबिंबित करता है। इसके साथ हम उस साहित्य पर ध्यान देते हैं जिसकी रचना का आधार शोषित जनता का श्रम है... साहित्य का हर स्तर सम्पत्तिशाली वर्गों के हितों से बंधा हुआ नहीं रहता।" (परंपरा का मूल्यांकन : 10-11) यह कहने के साथ ही रामविलास जी ने यह भी कहा, "साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इंद्रिय-बोध, उसकी भावनाएँ, आंतरिक प्रेरणाएँ भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का यह पक्ष स्थायी होता है।"* (वही)

अपने इसी सोच के तहत उन्होंने भक्ति साहित्य का मूल्यांकन किया और तुलसीदास को उसका सबसे बड़ा कवि घोषित किया। ऐसा करते हुए उनके ध्यान में तुलसी काव्य के सामंत विरोधी मूल्य थे, न कि ब्राह्मण और शूद्र के बीच की भेदकारी नीति।

आलोचक के रूप में रामविलास शर्मा का महत्त्व कई कारणों से है। लेकिन उनकी ख्याति का बड़ा आधार छायावाद और निराला संबंधी उनका मूल्यांकन है। छायावाद और निराला के प्रति हिंदी आलोचना में अच्छी राय नहीं थी। नंददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक छायावाद को प्रतिष्ठित करने का आलोचनात्मक संघर्ष कर रहे थे। उस संघर्ष को व्यापकता प्रदान की रामविलास शर्मा ने। निराला, प्रसाद और पंत की कविताओं को स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में और साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के रूप में प्रतिष्ठित करने का काम उन्होंने व्यापक पैमाने पर किया। तीन खंडों में 'निराला की साहित्य साधना' जैसा ग्रंथ लिखकर उन्होंने न सिर्फ निराला को, बल्कि छायावाद को भी सही परिप्रेक्ष्य देने का काम किया। निराला का महत्त्व स्थापित करते हुए उन्होंने पाँच टुकड़ों में एक कविता लिखी है जो 'तार सप्तक' में संकलित है और जिससे निराला का कालजयी कवि-रूप दिखाई देता है। 'कवि' शीर्षक इस कविता का एक अंश है-

"वह सहज विलंबित मंथर गति जिसको निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार;
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल;
झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल,
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल;-"

'छायावाद साम्राज्य-विरोधी चेतना के निखार का साहित्य है', यह बात रामविलास शर्मा ने व्यापक पैमाने पर प्रमाणित की और निराला के साहित्य का संबंध 'स्वाधीनता आंदोलन के नवीन उत्थान' के साथ घोषित किया। कवि निराला का महत्त्व स्थापित करते हुए उन्होंने लिखा, "*निराला का सहज स्वर उदात्त है; ओज उनके साहित्य का प्रधान गुण है। उनका माधुर्य अन्य कवियों के माधुर्य से भिन्न है; उनका शोक अन्य*

कवियों की वेदना से भिन्न है। कोई भी कवि एक ही उदात्त स्तर पर कविता नहीं लिख सकता, न उसे लिखनी चाहिए। निर्माण सौंदर्य के लिए उसे अनुदात्त या स्वरित स्तरों पर भी रचना करनी चाहिए। निराला एक ही कविता में भिन्न स्तरों पर अपने रचना-कौशल का परिचय देते हैं, अलग-अलग रचनाओं में भी। उनके श्रेष्ठ साहित्य में- भाव चाहे कोमल हो, चाहे कठोर- एक अंतर्निहित शक्ति का परिचय मिलता है। यह शक्ति स्वाधीनता आंदोलन के नए उत्थान की थी, यह शक्ति निराला के व्यक्तित्व की थी। दोनों के संयोग से ही निराला की साहित्य साधना पूरी हुई।" (निराला की साहित्य साधना, भाग-2 : 552)

निराला संबंधी रामविलास शर्मा के इस मूल्यांकन को देखकर संभवत: कवि दिनकर ने कहा था कि भाग्यशाली है वह कवि जिसे रामविलास शर्मा जैसा आलोचक मिला। इस टिप्पणी से रामविलास शर्मा का आलोचकीय महत्त्व प्रकट होता है।

कहा जा सकता है कि रामविलास शर्मा मुख्य रूप से छायावाद के आलोचक हैं। इसे विस्तार देकर यह भी कहा जा सकता है कि वे छायावाद के पूर्व के साहित्य के भी महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं। लेकिन प्रयोगवाद, नयी कविता और प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य के मूल्यांकन में उनकी आलोचकीय गति और मति शिथिल पड़ने लगती है। वे 'तार सप्तक' के कवियों में शामिल हैं, बावजूद इसके वे प्रयोगवाद, नयी कविता का महत्त्व ठीक-ठीक नहीं रेखांकित कर पाते हैं। 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' नामक उनकी पुस्तक उनके असफल आलोचनात्मक लेखन का सुन्दर उदाहरण है। यथार्थवाद की आलोचनात्मक कसौटी पर साहित्य को जाँचने की उनकी कोशिश इस पुस्तक में आकर असफल हो जाती है। इसी तरह प्रेमचंद और 'गोदान' की कसौटी पर जब वे फणीश्वरनाथ 'रेणु' और 'मैला आँचल' का मूल्यांकन करते हैं तो उस लेखक और उसकी कृति के साथ न्याय नहीं कर पाते।

'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में यथार्थवाद की जिस कसौटी पर वे नयी कविता के कवियों को कसते हैं, वे हैं अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध आदि। इनके समानांतर केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि को रखते हैं। इस तरह नयी कविता के कवियों के समानांतर उन कवियों का पक्ष रखते हैं, जो प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े हुए हैं। रामविलास शर्मा की समझ यह है कि नयी कविता पर अस्तित्ववाद का प्रभाव है और हिंदी की वास्तविक कविता केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि के माध्यम से परवान चढ़ती है। ये कवि यथार्थवादी हैं और इनकी कविताएँ यथार्थ परक हैं। रामविलास जी का निष्कर्ष है कि अज्ञेय, शमशेर आदि पर न सिर्फ अस्तित्ववाद का प्रभाव है; बल्कि उनकी कविताओं में 'नव रहस्यवाद' भी है। उनकी नजर में मुक्तिबोध पर न सिर्फ अस्तित्ववाद का प्रभाव है, बल्कि वे सिजोफ्रेनिक भी हैं और उनका कवि-व्यक्तित्व विभाजित है। वे यह भी कहते हैं कि मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' विभाजित व्यक्तित्व की कविता है। रामविलास शर्मा की नजर में नयी कविता के दौर के सबसे बड़े कवि केदारनाथ अग्रवाल हैं। इस दौर की कविता के बारे में अपनी राय स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, *"नयी कविता का उत्थान और प्रसार कई तरह से प्रगतिशील काव्यधारा के इतिहास से जुड़ा हुआ है। प्रगतिशील और प्रगति विरोधी रुझानों के भेद को मिटाने का प्रयत्न तो किया ही गया है, प्रगति विरोधी कविता को भी प्रगतिशील बताकर अनेक बार प्रस्तुत किया गया है। प्रगतिशील कविता की चर्चा में यथार्थवाद पर यथेष्ट जोर न देने के कारण इस कविता के इतिहास को समझने में भूलें होती हैं और अनेक कवियों के योगदान का सही मूल्यांकन नहीं होता।"* (नयी कविता और अस्तित्ववाद : 256)

यह कहने के साथ रामविलास शर्मा ने यथार्थवादी काव्यधारा के विकास में निराला का महत्त्व बतलाते हुए केदारनाथ अग्रवाल के योगदान पर विस्तार से लिखा है। उनके अनुसार निराला के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण

और बड़े कवि केदारनाथ अग्रवाल हैं। निराला और केदारनाथ अग्रवाल रामविलास शर्मा की दृष्टि में सही राजनीतिक दृष्टि से लिखनेवाले कवि हैं। रामविलास जी की स्पष्ट राय है: "*ये दोनों कवि हिंदी कविता में क्रांतिकारी यथार्थवाद के संस्थापक हैं।*" (वही : 279)

यथार्थवाद की साहित्यिक कसौटी पर जो कथाकार रामविलास शर्मा को सबसे उपयुक्त लगता है, वे हैं प्रेमचंद। उनके अनुसार सामंतवाद, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद-विरोध की सारी शर्तें प्रेमचंद का साहित्य पूरी करता है। इसलिए प्रेमचंद को वे 'स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक साहित्यकार' के रूप में याद करते हैं। लेकिन यथार्थवाद वाली उनकी साहित्यिक कसौटी 'मैला आँचल' और नए मिजाज के उपन्यासों के मूल्यांकन में असफल साबित होती है। प्रगतिशील परंपरा के मूल्यांकन में व्यापक और उदार दृष्टि का परिचय देनेवाला आलोचक यथार्थवाद की संकीर्ण गली में फँस जाता है। 'मैला आँचल' का मूल्यांकन करते हुए रामविलास जी ने कहा कि वह प्रेमचंद की परंपरा का उपन्यास नहीं है। उन्होंने लिखा है, "*... 'मैला आँचल' में नयी चीज है, लोक संस्कृति का वर्णन। लोक गीतों और लोक नृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अंचल-विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है। इसके साथ कथा कहने की उसकी नयी पद्धति है। वह सिनेमा के चित्रों के समान बहुत-से शॉट इकट्ठे कर देता है, ये शॉट एक-दूसरे से कितने विच्छिन्न हैं, इसका ध्यान नहीं रखता, एक ही अध्याय में तीन-चार बार 'कट' लगाकर पाठक को चौंधिया देता है। नतीजा यह है कि चलचित्र में जो सम्बद्धता होती है, उसका यहाँ अभाव है। उसकी चित्रण-पद्धति यथार्थवाद से अधिक प्रकृतिवाद के निकट है.... 'मैला आँचल' का लेखक प्रेमचंद की परंपरा से दूर जा पड़ा है।*" (प्रेमचंद की परंपरा और आँचलिकता, आस्था और सौंदर्य : 97)

प्रेमचंद उनके लिए वो निकष हैं, जिसके आधार पर वे जैनेन्द्र और रेणु समेत बहुतेरे कथाकारों को खारिज कर देते हैं। जैनेन्द्र की गाँधीपंथी सामाजिकता और उनकी अलग कथा-शैली उन्हें यथार्थवादी नहीं लगती, बल्कि प्रतिक्रांतिकारी लगती है। जैनेन्द्र की समूची उपलब्धि को वे 'देवर भाभी वाद' तक सीमित कर देते हैं। इसी तरह यशपाल के कथा साहित्य का भी वे मूल्यांकन करते हैं और उसे भी 'चोली जंफर उतार' जैसी संज्ञा से चिह्नित करते हैं। यही आलोचनात्मक व्यवहार उन्होंने राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, अमृत राय आदि वामपंथी लेखकों के साथ भी किया है। उनकी इस तरह की आलोचना को 'कुल्हाड़ी मार' आलोचना की संज्ञा वामपंथी लेखकों ने ही दी है।

यह सही है कि रामविलास शर्मा ने प्रगतिशील आंदोलन की प्रारंभिक संकीर्णता से संघर्ष किया और उसे व्यापक रूप देते हुए हिंदी साहित्य के लगभग एक हजार वर्षों के इतिहास का मूल्यांकन किया। लेकिन उनका यह मूल्यांकन-कार्य अपने से पूर्व के लेखकों और साहित्य का था। अपने समय और बाद के लेखकों के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए वे काफी 'सब्जेक्टिव' रहे। कहा जाता है कि वे राजनीतिक सोच के स्तर पर स्टालिनवादी थे और उनके साहित्य चिंतन पर प्लेखानोव, काडवेल आदि मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों का प्रभाव था, साथ ही यथार्थवाद वाली उनकी कसौटी घिस चुकी थी, जिसका पता उन्हें नहीं था। उन्होंने साहित्य के मूल्यांकन के जो निकष बनाए, मसलन 'नवजागरण', 'यथार्थवाद' आदि वे बदलते समय में नाकाफी हो चुके थे। छायावाद और निराला के बाद के साहित्य पर लिखी हुई उनकी आलोचना को इसी संदर्भ में देखना चाहिए।

हिंदी नवजागरण संबंधी उनकी अवधारणा को बाद के वर्षों में चुनौती दी गई और उसे एक तरह से 'हिन्दू नवजागरण' की संज्ञा दी गई। उनके हिंदी नवजागरण संबंधी तर्क को अति व्याप्ति दोष से ग्रसित माना गया और यह कहा गया कि जिसे रामविलास शर्मा 'हिंदी नवजागरण' कहते हैं, वह सामाजिक नवजागरण

नहीं है, वह साहित्यिक नवजागरण भर है। इसे बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण के समानांतर नहीं देखा जा सकता। हिंदी नवजागरण जैसी किसी सचाई से इंकार करते हुए वीर भारत तलवार ने लिखा है, "*हिंदी नवजागरण एक भ्रामक नाम है। कुछ हिंदी लेखकों द्वारा एक मुहावरे की तरह चलाए गए इस शब्द का, उनकी चर्चाओं से बाहर, कहीं कोई अस्तित्व नहीं। जिसे हिंदी नवजागरण कहा जाता है, वह दरअसल ब्राह्मो समाज और खासकर आर्य समाज के धार्मिक सुधारों के खिलाफ, उनकी प्रतिक्रिया में हुआ, सनातनी बुद्धिजीवियों का आंदोलन था जिसमें उस समय के सभी बड़े हिंदी लेखकों और संपादकों ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया....उनके आंदोलन को नवजागरण कहना धार्मिक-सामाजिक सुधारों वाली भारतीय नवजागरण की धारा से उन्हें गडमड कर देना होगा।*" (रस्साकस्सी : 342)

इन सब आलोचनाओं के बावजूद रामविलास शर्मा की मान्यताएँ अपनी जगह हैं और वे आज भी हिंदी पाठक का सामान्य बोध बनी हुई हैं।

❑❑❑

आलेख

रेणु : कर्तृत्व और कृतित्व

❍ चितरंजन भारती

भारतीय हिंदी साहित्य में प्रेमचंद के बाद रेणु की साहित्यिक कृतियाँ सर्वाधिक चर्चित रही हैं। अभी रेणु-जन्मशती के अवसर पर जैसे रेणु आधारित पत्रिकाओं के विशेषांकों की भरमार रही। रेणु समादृत किये गये। आलोचकों ने भी इनका सर्वाधिक मूल्यांकन किया है। वैसे रेणु आरंभ से ही अपने लेखन के लिये आलोचकों के केन्द्र-बिंदु बने रहे। स्वाधीनतापूर्व से लेकर स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भी रेणु का जीवन आंदोलन से आलोड़ित रहा है। यहाँ तक कि पड़ोसी देश नेपाल के भी आंदोलनों में उन्होंने अपनी सक्रिय भूमिका निभाई। राजनीति में रहकर भी वह उससे इसलिए निरपेक्ष रह पाये कि उनका मूल स्वर जनाभिमुख रहा। सत्ता का स्वाद पाने के लिए वह हमेशा अनिच्छुक रहे। या यूँ भी कह सकते हैं कि वह वहाँ तक पहुँच नहीं पाये। और यही कारण था कि उन्हें राजनीति में पराजय और उपेक्षा मिली। वह पुनः पुनः साहित्य की ओर लौटे और पत्रकारिता का दायित्व भी निभाया। उनका सौभाग्य रहा कि टाइम्स ऑफ इंडिया ग्रुप की पत्रिकाओं 'दिनमान' और 'धर्मयुग' से जुड़े रहे। इसमें छपने पर उन्हें राष्ट्रव्यापी स्वीकृति मिली। पत्रकारिता में रहने के कारण वह पाठकों की प्रतिक्रियाओं से उन्हें जन-जीवन को समझने में और अधिक सहायता मिली।

रेणु के बहुमुखी व्यक्तित्व और जनाभिमुखी संवेदनाओं से परिचय तो बहुत पहले ही हो चुका था। उनका जुझारूपन ऐसा कि वे वरिष्ठ लेखकों से ही नहीं, राष्ट्रीय स्तर के नेताओं तक के विचारों को नकारने की हिम्मत रखते थे। जमीन से जुड़े इस संघर्षशील व्यक्तित्व के सभी कायल थे। पटना में वह दीर्घावधि से रह रहे थे। और यहाँ भी उनके प्रशंसकों की कमी नहीं थी। उनके ऐसे ही एक प्रशंसक थे- रजनीकांत सिन्हा, जो प्रकाशन-व्यवसाय से जुड़े थे। पटना विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. रामबुझावन सिंह के मार्फत रजनीकांत उनसे जुड़े, तो जुड़े ही रह गये। और यह जुड़ाव कुछ ऐसा रहा कि वह रिश्तेदारी में परिणत हो गया।

उस जमाने में भी, और वह भी बिहार में जातीय और दहेज बंधन तोड़कर शादी-ब्याह करना-करवाना भी किसी क्रांति से कम नहीं दिखता था। रामबुझावन सिंह की मध्यस्थता में रेणु की बड़ी बेटी का विवाह रजनीकांत सिन्हा के बड़े बेटे के साथ संपन्न कराया गया। और इसी के साथ रजनीकांत और भी गहराई के साथ रेणु के साथ जुड़ गये। रेणु का स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रहा। उनकी जनपक्षधरता कहें या आंदोलनप्रियता, उनका जीवन कभी स्थिर और सामान्य नहीं रहा। स्वाभाविक ही उनका स्वास्थ्य कहाँ से ठीक रहता। 1974 के आंदोलन में जयप्रकाश नारायण के साथ सक्रियता से भाग लेने के कारण वह और

अधिक अस्वस्थ हुए। और उनके ऐसे आड़े वक्त में रजनीकांत हमेशा मददगार के रूप में साथ खड़े रहे।

1977 में रेणु के निधन के बाद वह और प्रासंगिक के रूप में याद किए जाने लगे थे। मगर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर कोई आधिकारिक पुस्तक नहीं थी। ऐसे गाढ़े वक्त में रजनीकांत सिन्हा आगे आये और एक पुस्तक '*रेणु : संस्मरण और श्रद्धांजलि*' का प्रकाशन नवनीता प्रकाशन, पटना से किया, जिसके संपादक द्वय प्रो० रामबुझावन सिंह और डा० रामवचन राय थे। इस पुस्तक के प्रकाशन एवं संकलन हेतु स्व० रजनीकांत सिन्हा ने विशेष मेहनत की थी। इस पुस्तक से आर्थिक लाभ तो कुछ हुआ नहीं, मगर सराहना भरपूर मिली। इससे उत्साहित रजनीकांत ने इसकी अगली कड़ी के रूप में 'रेणु : कर्तृत्व और कृतियाँ' के संयोजन में जुट गये। एक टीम-वर्क के रूप में काम करने के लिए अपने इष्ट-मित्रों को तैयार किया। और तब कहीं जाकर 1983 में अगला ग्रंथ 'रेणु : कर्तृत्व और कृतियाँ' का सियाराम तिवारी और रामदेव प्रसाद के संपादन में प्रकाशन हुआ, जिसका सारा खर्च आदि अकेले रजनीकांत ने वहन किया। लगभग पाँच सौ पृष्ठों के इस भारी-भरकम ग्रंथ के प्रकाशन में उन्हें कितनी मशक्कत करनी पड़ी, यह उनके एक वक्तव्य से समझा जा सकता है- "*जिन विद्वानों ने इसमें भाग लिया है, उन्होंने यज्ञ की महत्ता को ही परखने की चेष्टा की है। जिन विद्वानों ने इसमें भाग नहीं लिया, उनमें से अधिकांश तक मैं पहुँच ही नहीं सका और जिन कुछ-एक के पास पहुँच भी सका, वे इस यज्ञ के संयोजक की पात्रता और क्षमता को संदिग्ध दृष्टि से देखते रहे और यज्ञ की संभावित विघ्न-बाधाओं के प्रति आशंकित रहे। कुछ ऐसे भी रहे, जिन्हें इसमें यश-प्राप्ति के आसार नजर नहीं आये।*"

ध्यातव्य यह है कि यह वह समय था, जब संपूर्ण क्रांति को 'भ्रांति' की संज्ञा दी जाने लगी थी। जनता पार्टी विभिन्न खेमों-गुटों में बँटकर नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। सत्तापिपासु जो लोग थे और कांग्रेस से निकलकर जनता पार्टी में आये थे, वही असफलता का ठीकरा दूसरों के माथे फोड़ते हुए पुनः घर-वापसी कर रहे थे या अन्य दलों का निर्माण कर रहे थे। और ऐसे में आंदोलनों से जुड़े लोग अछूत से बनते जा रहे थे। मगर रेणु का लेखन ठोस जमीन पर निर्मित था। सो चाह कर भी उसे अनदेखा किया जाना नामुमकिन था। रेणु का लेखन देश-देशांतर के गाँव-गाँव में ही नहीं, जन-जन के मन-मानस में फैल चुका था, जिससे एक अलग प्रकार की जागृति और चेतनता आई थी। यही कारण है कि तथाकथित पिछड़ी जातियों में जो जागृति आई, उसने कांग्रेसी कल्चर में सेंधमारी कर उसे नेस्तनाबूद किया और बिहार-उ.प्र. जैसे भारी-भरकम राज्यों में क्षेत्रीय दलों का दबदबा बढ़ा और सत्तासीन भी हुए।

मगर यह सब तो आगे की बात है। महत्वपूर्ण यह कि रेणु के लेखन को पुनर्मूल्यांकन की जरूरत थी। और उस विषमता भरे संक्रमणकाल में रजनीकांत ने यह बीड़ा उठाया और अपने शरीर-स्वास्थ्य का ख्याल न रखते हुए, भारी-भरकम खर्चों की परवाह न करते हुए उपर्युक्त ग्रंथ का प्रकाशन किया। आमतौर पर देखा तो यही जाता है कि साहित्यिक व्यक्तित्वों को दिवंगत होने के उपरांत विस्मृत कर दिया जाता है और उनका लेखन पुस्तकालयों की शोभा-वस्तु बनकर रह जाता है। लोगों को उसमें कोई लाभ-लोभ जो नहीं दिखता। मगर इस लाभ-लोभ से परे रजनीकांत सिन्हा ने रेणु के इस आलोचनात्मक ग्रंथ को प्रकाशित करने का जोखिम उठाया।

"*उन दिनों मैं इंटर-स्नातक का छात्र था। दुनियादारी भी नहीं समझता था। कभी-कभार बाबूजी के प्रेस में जाता, तो पाता कि वह इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए कितने परेशान हैं।*" आलोक सिन्हा बताते हैं- "*देश-भर में रेणु के पाठक-प्रशंसक-आलोचक बिखरे पड़े हैं। वह समय फोन-मोबाइल आदि का भी नहीं था, जो चट किसी से संपर्क हो जाए। सभी कुछ भारतीय डाक-तार की कृपा से संपर्क संभव होता था।*

या कभी कोई आया-गया या आप कहीं आये-गये, तो बातचीत होती थी। इसमें स्वाभाविक समय, श्रम तो लगना ही था, यह व्यय-साध्य भी था। फिर भी वे पाँचेक साल के घोर परिश्रम के बाद इसके प्रकाशन में सफल हुए। इससे कोई वित्तीय लाभ हुआ नहीं। लगभग सभी प्रतियाँ निःशुल्क ही वितरित हो गईं। दरअसल बाबूजी के पास रेणु के पाठक, प्रशंसक, आलोचक आते, तो वह उन्हें हर संभव सहयोग करते थे। कोई यदि किताबों का मूल्य देना भी चाहे, तो सौजन्यतावश नकार जाते थे कि इस ग्रंथ का समुचित मूल्यांकन हो सके।"

उनकी इन बातों से रेणु साहित्य के मर्मज्ञ और 'रेणु रचनावली' के संपादक भारत यायावर भी इत्तफाक रखते हैं। अपनी बातों के क्रम में वे सिर्फ रजनीकांत की ही नहीं, उनके पूरे परिवार की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते कहते हैं- "*एक प्रकाशक की व्यस्तता को जाना नहीं, सिर्फ महसूस किया जा सकता है। रेणु से संबंधित शोधकार्य के लिए जब-जब मैं पटना गया, वे हमें होटल में ठहरने नहीं देकर अपने घर में ही ठहराया करते थे। भोजन-पानी, सुख-सुविधाएँ बिलकुल घर के सदस्य की तरह मुझे मिलतीं और हर संभव सहयोग भी करते थे। उनके सकारात्मक सहयोग की वजह से ही मेरे शोधकार्य का काम आसान हो गया था।"*

वैसे तो रेणु का समस्त जीवन संघर्षमय ही रहा। फिर भी रजनीकांत सिन्हा ने उन्हें हमेशा साथ दिया। आपात्काल के उस दौर में, जब जरा सा भी संदेह होने पर जेल में डाल दिया जाना सामान्य बात थी, वह रेणु के साथ रहे। आंदोलन से संबंधित प्रचार-सामग्री तक प्रकाशित करने का जोखिम उठाया। रेणु के निधनोपरांत 1978 में '*रेणु : स्मृति और श्रद्धांजलि*' का प्रकाशन किया। फिर '*रेणु : कर्तृत्व और कृतियाँ*' की तैयारी में लग गये। इस ग्रंथ के रेणु साहित्य से संबंधित आलेखों को अलग-अलग खंडों में भी बाँटकर देखा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने उनकी कहानियों पर, तो कुछ ने उनके उपन्यासों को दृष्टिगत कर आलेख लिखा है। फिर उनके उपन्यासों और कहानियों पर अलग-अलग आलेख हैं, तो अन्य भाषाओं में लिखे गये आंचलिक उपन्यासों से रेणु के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन संबंधी आलेख हैं। अपने संपादकीय '*रेणु : विविध प्रसंग*' में डॉ सियाराम तिवारी 'आंचलिक उपन्यास' का विलोम 'व्यक्तिपरक उपन्यास' बताते हुए आंचलिक उपन्यास की पूरी बुनावट का विश्लेषण करते हैं। और यहीं से पाठक की समझ विकसित होने लगती है। आगे वह स्पष्ट करते हैं- "*अब एक प्रश्न शेष रह जाता है और वह है कि क्या नगर-जीवन पर आंचलिक उपन्यास संभव है या नहीं। आंचलिक उपन्यास केवल ग्रामीण अंचल पर ही लिखा जा सकता है। इसे विशुद्ध भ्रम ही कहा जायेगा। इस भ्रम का पहला कारण यह है कि 'मैला आँचल' के प्रकाशन से हिंदी में आंचलिकता की धूम मची और उसकी कथा का केन्द्र है एक गाँव मेरीगंज। यह तो केवल संयोग की बात है। संयोगवश अन्य प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास भी ग्राम-जीवन पर ही लिखे गये, जिससे यह भ्रम पुष्ट हो गया। किन्तु आंचलिकता कथ्य में नहीं, स्थापत्य में है। आंचलिक उपन्यास वस्तु की नहीं, शिल्प की विशिष्टता धारण करता है। 'गोदान' और 'मैला आँचल' दोनों का कथानक ग्राम-जीवन से संबद्ध है। किन्तु दोनों की संरचना में अंतर है।"*

इस संपादकीय में संभवतः आंचलिकता को स्पष्ट करने के लिए कुछ लघु आलेख भी तिवारी जी ने विविध उप-शीर्षकों 'भारत में आंचलिक उपन्यास का उद्भव', 'रेणु और आंचलिक उपन्यास', 'रेणु और सतीनाथ भादुड़ी', 'रेणु और प्रेमचंद', 'रेणु और उनके आलोचक' आदि भी संलग्न हैं।

अपने आलेख 'उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु' में डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह विचार करते कहते हैं- "*अज्ञेय और जैनेन्द्र की अभिजात और गढ़ी गई भाषा की तुलना में उसकी ताजगी हमें छूती है। रेणु के*

उपन्यासकार की शक्ति यहाँ देखने लायक है। भाषा की ताजगी के कारण अश्लील गालियाँ भी ब-खूबी पच गई हैं। लोकभाषा में अश्लीलता को वहन करने का जो सहज गुण होता है, वह परिनिष्ठित भाषा में अप्राप्त है। परिनिष्ठित भाषा जब लोकभाषा के संपर्क में आती है, तब उसमें नई ऊष्मा और प्राणवत्ता का संचार होता है।" वह आगे रेणु की महानता सिद्ध करते कहते हैं- *"जो सचमुच महान लेखक है, उसके राजनीतिक विचार चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह वास्तविकता के साथ भयानक तथा क्रांतिकारी युद्ध में जूझे बिना कभी रह नहीं सकता। उसका लक्ष्य होता है वास्तविकता को बदलना। यही कार्य रेणु ने 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' और 'जुलूस' में किया है। बाहर की परती नहीं, मन की परती मुख्य है।"*

इसी प्रकार डॉ. श्यामसुंदर घोष अपने आलेख "उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु" में अपना विचार प्रकट करते हुए मंतव्य देते हैं- *"भारतीय जीवन उदास और विषण्ण चाहे जितना हुआ हो, उसमें जीवन का संगीत अभी बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ है।"* और इसी जीवन-संगीत को जैसे रेणु ने अपनी कथाओं में उतारा है। रेणु को वह प्रेमचंद का उत्तराधिकारी घोषित करते विचार देते है- *"रेणु के उपन्यासों में वह सबकुछ है, जो प्रेमचंद के उपन्यासों में है। लेकिन एक चीज विशेष है जो प्रेमचंद से, किन्हीं कारणवश, छूट गया था। इसीलिये हम रेणु को प्रेमचंद का पूरक या उत्तराधिकारी कह सकते हैं। रेणु ने प्रेमचंद को उसकी सुदूर परंपरा में रखकर देखा और परखा और जो कुछ उसे लुप्त और छूटा नजर आया, उसे संजोया और विकसित किया है।"*

विष्णुदत्त राकेश अपने 'नवमुक्त मनुष्य के मसीहा' आलेख के माध्यम से रेणु की राजनीतिक-साहित्यिक जीवन-शैली को देखते निष्कर्ष निकालते हैं- *"अंचल विशेष की पार्श्वभूमि और जीवन-कथा चुनने से रेणु का चिंतन-फलक सीमित नहीं हो जाता। दमित भावनाओं, व्यक्ति-चेतना की विजयाकांक्षा तथा व्यवस्थागत विसंगतियों का पर्दाफाश करने के लिये रेणु जहाँ हास्य-व्यंग्य का प्रयोग करते हैं, वहाँ जनोन्मुखता के लिए आंचलिक शब्दों का प्रचुर प्रयोग कर विषय को प्राणवान् बना देते हैं। जीवन के साक्षात्कार की यह अनिवार्य शर्त है।"* वर्तमान के संदर्भों को देखते हुए श्री विष्णुदत्त राकेश 'परती परिकथा' के संदर्भ में कहते हैं- *"चुनाव के हथकंडे, नौकरी की चिंता, जात-पाँत के स्तरों को तोड़ रहे हैं। विमुक्त जाति की सूची में बड़े घरों और जातियों के लोग सरकारी सुविधा प्राप्त करने के लिए नाम लिखा रहे हैं।"* वह जैसे पुनः सवाल करते हैं- *"क्या रेणु अपने कथा-साहित्य में जूझते हुए पात्रों को खुली लड़ाई के लिए तैयार कर सके हैं? मेरा उत्तर है- नहीं। शक्ति, लाभ और परिवर्तन की अभीप्सा होते हुए भी उनमें दुर्बलताओं का ऐसा अंबार है कि वह सत्य को नीचे दबा देता है। लेकिन प्रतिपादन की ऐसी सामर्थ्य रेणु के पास है कि उनके हर मुड़े हुए, बदले हुए, किन्तु सतत जीवन पात्र के प्रति सौहार्द और संवेदनापूर्ण सहानुभूति पाठक से मिल जाती है।"*

उनके इन विचारों को निशिकांत ठकार अपने आलेख में लेखकीय गुणधर्म के रूप में देखते-परखते, विचार करते हैं- *"समकालीन यथार्थ को और यथार्थ सामाजिकता को जरूरी बना देता है। प्रतिबद्ध लेखक को इसीलिए अभिव्यक्ति के खतरे उठाने होते हैं। यथार्थ वस्तुनिष्ठा की माँग करता है। जो है उसे तो देखना ही होता है। तब रचनाकार की आत्मनिष्ठा दाँव पर लग जाती है। समकालीनता और अस्तित्व, वस्तुनिष्ठा और आत्मनिष्ठा, यथार्थ और आदर्श के रूबरू होने पर जो रचनात्मक द्वंद्व उत्पन्न होते हैं, उन्हें रेणु ने अत्यंत सहज ढंग से झेला है। अपने तनावों को, अंतर्विरोधों को महसूस नहीं होने दिया है। रेणु के कृतित्व की इस सहजोपलब्धि का अनुभव आज के साहित्य में विरल सा हो गया है।"* वर्तमान में 'पिछड़ापन' एक मुहावरे की तरह इस्तेमाल होने लगा है, जिसे ठकार स्पष्ट करते हैं- *"रेणु ने पिछड़ेपन से भी बढ़कर महत्व दिया*

है नये जमाने में बदलने वाले मानवीय संबंधों को। संबंध जो जमीन के साथ है, और संबंध जो औरों के साथ है। मानवीय संबंधों की नई संभावनाओं को सामने ला रहा है... रेणु को इसमें आकर्षण ही नहीं, आस्था भी है। जन-जीवन में संक्रमण नया गुल खिला सकता है... यह आशा है। यही इस युग की समकालीनता है, जिसे समझने की जरूरत है। रेणु ने इस निष्ठा से अंचल को देखा है। यह निष्ठा ही रेणु का आदर्श है।"

प्रख्यात लेखक कर्मेन्दु शिशिर 'रेणु की ग्रामीण संवेदना' पर अपनी दृष्टि केंद्रित करते रेणु की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हैं- "*कोई रचनाकार सिर्फ इसलिए विशिष्ट नहीं हो जाता कि उसने कितना यथार्थ चित्रण किया है। यह तो उसकी बुनियादी शर्त है ही। मूल बात यह है कि उसके यथार्थ के पीछे अर्थ-दर्शन में किसी शाश्वत मानवीय तत्व की गंध है या नहीं। रचनाकार का स्थापत्य इसी धरातल पर प्रतिबद्ध होता है. .. वह चाहे व्यक्तिवादी हो या समूहवादी। उसका स्थापत्य अभिव्यक्ति के स्तर पर जितना ही अनुभूतिप्रवण होगा... रचना उतनी ही सार्थक होगी।*" अपनी बात रेणु के संदर्भ में और अधिक स्पष्ट करने के लिए वह रूसी आलोचक बेलिंस्की का उद्धरण देते हैं- '*साहित्य के लिए हमेशा एक नया मॉडल चाहिए और सबसे नया मॉडल है प्रकृति। लेकिन प्रकृति से भी सर्वाधिक शुभ्र और नया मॉडल है मनुष्य।*'

स्पष्टत: रेणु ग्रामीण संवेदनाओं के चितेरे हैं। आलोचकों ने उनके इसी रूप पर अपने मंतव्य भी गढ़े हैं। मगर यह गढ़न तो प्रेमचंद के संबंध में भी है। भारतीय लेखक आरंभ में मूलत: गाँव से ही तो जुड़े होते हैं। फिर बाद में शहरी बन जाते हैं। और इसमें सही-गलत जैसा कुछ नहीं। स्वाभाविक लेखकों की रचनाओं में गाँव की गंध जुड़ी रहती है। यह ग्रामीण-गंध रेणु साहित्य में कुछ अधिक और विशिष्ट है। रेणु के इसी ग्रामीण संवेदना का अपने आलेख में श्री शिशिर ने सोदाहरण विवरण दिया है- "*पवित्रा को बस इसी बात का गहरा दुख है कि गाँव के लोगों को यहाँ की मिट्टी से मोह क्यों नहीं होता? वह कौन सा दरवाजा है इनके दिल का, जिसे खोलने के लिए पवित्रा कुंडी खटखटाये... किस दरवाजे की?*" इस दरवाजे की तलाश लेखक को है!

'कथागायक फणीश्वरनाथ रेणु' के रूप में कृष्ण कमलेश ने अपने आलेख में देखने का प्रयास किया है। समस्त रेणु साहित्य के आधार पर वह यह निष्कर्ष देते हैं- "*आज जीवन मूल्य तेजी से बदल रहे हैं। व्यक्ति का जीवन नीतिशास्त्र के बंधे-बँधाये नियमों से नहीं, मनोविश्लेषण से चलता है। हमने आजादी मिलने के साथ ही ढेर सारे सपने सँजोये थे। सारे सपने टूट गए। प्रजासत्ता प्रजा की सत्ता नहीं रही, झुण्ड की सत्ता हो गयी। इस मातृभूमि को रेणु ने अत्यंत मार्मिकता और कौशल के साथ उठाया है।*" वहीं सूर्यप्रसाद दीक्षित रेणु को 'ग्रामीण व्यवस्था के कथाशिल्पी' के रूप में इसलिए देखते हैं, क्योंकि वह समग्र रेणु साहित्य का अवलोकन नहीं कर पाते। फिर भी यह सत्य तो है ही कि ग्रामीण चित्रण के कारण ही रेणु विशेषत: चर्चित हुए, क्योंकि नागरी जीवन पर तो लेखन चलता ही रहता है। दीक्षित के मतानुसार, 'मैला आँचल' के एक प्रमुख पात्र प्रशांत के माध्यम से रेणु स्वयं की अभिव्यक्ति देते हैं- "*आंसू से भींगी धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे। मैं साधना करूँगा ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आँचल तले।*"

इनसे कुछ कदम आगे जा कर '*रेणु की रचनाधर्मिता और राजनीतिक प्रतिबद्धता*' को बैजनाथ राय सामंजस्य के रूप में दिखाते हुए आंचलिक उपन्यासों का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करते हैं। सिंधु भिंगारकर 'सरिता' ने '*रेणु कथा-साहित्य में नारी-चित्रण*' की पड़ताल की है। वैसे '*रेणु के उपन्यासों में नारी*' की पड़ताल मंजुरानी सिंह ने भी की है।

'*रेणु का औपन्यासिक शिल्प : प्रयोग की सार्थकता*' की आलोचना जवाहर सिंह ने बेहतरीन ढंग से की है और इसी आधार पर स्थापना दी है कि "*इन्हीं उपन्यासों के आधार पर रेणु को गांधीवादी-मानवतावादी*

भी करार दिया जाये और समाजवादी-प्रगतिवादी भी।" अपने इस आलेख में जवाहर सिंह ने विशिष्ट स्थापनाएँ दी हैं और निष्कर्ष इस रूप में दिया है- "*उपन्यास का शिल्प कैसा भी हो, अपनी श्रेष्ठता और प्रायोगिक सफलता की एकमात्र परख रोचकता के आधार पर ही हो सकती है। रेणु के उपन्यासों की लोकप्रियता उसकी रोचकता को प्रमाणित कर देती है और यही उनके औपन्यासिक शिल्प की सार्वजनिक स्वीकृति तथा सफलता भी है।"* इस ग्रंथ में शामिल एक अन्य आलेख में जवाहर सिंह '*रेणु के उपन्यासों की भाषिक संरचना*' पर विचार करते, गहराई से उतरते कहते हैं- "*इस ध्वनि-चित्रात्मक वर्णन में ही रेणु की भाषा की सारी रूपायण-शक्ति प्रकट हो गयी है। चित्रात्मकता और ध्वन्यात्मकता तो इसमें स्पष्ट परिलक्षित होती है, पर यह चित्र एक ही साथ ध्वनि, गति, प्रक्रिया और समय-व्यतीत के भावों को भी प्रकट कर पूरे प्रभाव को रूपायित कर देता है। केवल लोकगीतों और सार्थक आंचलिक शब्दों से ही नहीं, निरर्थक सी लगनेवाली वाद्य-ध्वनियों और पशु-पक्षियों की बोलियों से भी गहरे अर्थ-संकेत ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता रेणु में है। वह रेल के इंजन, साइकिल की घंटी, ढोलक की ध्वनियों तथा घोड़े और कुत्ते की बोलियों में भी मानवीय संवेदना का तारतम्य स्थापित करते हुए दिखाई देते हैं।"* यहाँ वह लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का संदर्भ भी देते हैं- "*रेणु के पास तो ध्वनि-यंत्र है, जिनके माध्यम से उन्होंने इस अंचल की गायों की आवाज, पेड़-पत्तों के हिलने की ध्वनि, नाक भिड़कने और छींकने की आवाजें, हँसुलियों और झाँझरों के बजने, कंगनों की खनक तक सुन लेते हैं।"*

रेणु साहित्य में आंचलिक शब्द मंत्र-मुग्ध से करते हैं। और भुवनेश्वर ने जैसे इसी कारण '*रेणु के उपन्यासों में आंचलिक शब्दों की भूमिका*' पर विचार किया है। उन्होंने रोचक शब्दों में रेणु-अंचल के भाषाई शब्दों का विश्लेषण किया है- "*रेणु यह मानकर चलते हैं कि गाँव और शहर की भाषाएँ भिन्न हैं। दोनों में संवाद नहीं है। रेणु संवाद की भाषा तैयार करते हैं। वे शहर और गाँव की दुनिया जोड़ना चाहते हैं। इस अलग-अलग दुनिया को जोड़नेवाला माध्यम है भाषा। इसलिए यहाँ आकर अंग्रेजी शब्द भी गँवार बन जाते हैं।"* इसके आगे भुवनेश्वर ने अपने इस आलेख में उन शब्दों की सूची ही पेश कर दी है, जो अंचल में तोड़-मरोड़कर बोली जाती है। और इन शब्दों में जैसे गीतात्मकता हो, इसी को दृष्टिगत कर श्यामसुंदर घोष अपने आलेख '*रेणु को गाते हुए गद्य-लेखक*' के रूप में देखते हैं, जिसकी शुरुआत ही रेणु की कविता से होती है। पुन: वह अपनी बात पर आते हैं- "*उनका गद्य गाँव की जमीन पर ठुमक-ठुमक कर चलता है, सरपट दौड़ने का भाव उसमें कम ही है। रेणु के गद्य के आस्वाद के लिए एक विशिष्ट मानसिकता और संस्कार चाहिए। शहरी मिजाज लेकर हम रेणु के गद्य की दुनिया में प्रविष्ट नहीं हो सकते। और यदि प्रविष्ट होंगे, तो हमें उसमें एक बनावटीपन नजर आयेगा।"*

रेणु के विशिष्ट भाषिक ध्वनियों को लेकर श्यामाकांत झा का '*रेणु के उपन्यासों में साहित्यिक ध्वनियों के विविध स्तरीय प्रयोग*' पर अपना ध्यान केंद्रित कर आलेख लिखा है। तीसेक पृष्ठों पर फैले इस आलेख में गंभीरता है, तो रोचकता भी है। खासकर गायकों के लिए यह आलेख बेहद उपयोगी है, जिसे उन्हें मनोयोपूर्वक पढ़ना चाहिए।

'*रेणु की कथाभाषा : उपलब्धि और सीमा*' एक गंभीर और विचारणीय आलेख है, जिसमें आलोचक शीला चौधरी ने कुछ अन्य लेखकों की भाषाओं से रेणु की भाषा से तुलना परोसी है। यहाँ वह रेणु की कथाभाषा की सीमाएँ भी देखने की कोशिश की है, जिनसे असहमत होना कठिन है- "*रेणु में भाषिक विपथन के अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ हिन्दी कथा-भाषा की उदारवादिता, अभिव्यक्ति के प्रति संकल्पबद्धता एवं सर्जनात्मकता के प्रति आग्रह है तो दूसरी ओर हिन्दीतर भाषाओं से अज्ञात पाठकों के लिए द्विधा एवं*

अस्पष्टता का सृजन करते हैं।" शीला चौधरी यहाँ जैसे अपने आलोचना के संदर्भ में मधुकर गंगाधर को उद्धृत करती हैं- *"मैला आंचल की भाषा को टोन, स्थापत्य, निष्कर्ष कुछ भी हिन्दी से मेल नहीं खाता।"* इसके बावजूद उन्होंने महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह दिया- *"रेणु की कथाभाषा में उपर्युक्त सीमाओं में से कुछ दोष और त्रुटियाँ तो अवश्य हैं, परंतु अव्वल तो यह कि सीमाएँ कहाँ नहीं होती, दूसरी बात यह कि उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना 'औचित्य' का उल्लंघन करना है।"*

यहाँ आलोचक चौधरी से यह सहमति तो बनती ही है कि हिंदीतरभाषी लोग इसे सहजतापूर्वक पढ़ नहीं पाते। दूर क्यों जाएँ, इस अंचल से अलग दूसरे हिंदीभाषी लोगों को भी इसकी भाषा समझने में परेशानी होती है। कहने को भक्तिकाल का साहित्य हिंदी में है। मगर वाकई वह हिंदी ही है क्या! अगर कोई व्याख्या न करे, भाव न समझाये, तो उस ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली मिश्रित भाषा को समझना दुष्कर है। इसी प्रकार अमृता प्रीतम, कृष्णा सोबती के पंजाबी मिश्रित हिंदी पाठकों के लिए मुश्किलें ही तो खड़ी करते हैं। और यही मुश्किलें रेणु के आरंभिक साहित्य के साथ है। रेणु इन मुश्किलों को समझ चुके थे। और इसलिए उनके क्रमशः विकसित होते साहित्य में आंचलिकता का आतंक कम होता जाता है, पाठकों के लिए वह सरल, पठनीय होता जाता है।

नलिन विलोचन शर्मा का चर्चित आलेख 'मैला आँचल' पढ़ने के बाद ही हिंदी जगत में रेणु विशिष्ट अर्थ में मान्य हुए थे और अकादमिक स्तर पर उनकी चर्चा चलने लगी थी। अपने इस लघु, मगर कसे हुए आलेख में उन्होंने आंचलिकता को परिभाषित सा कर दिया है। उपन्यास 'मैला आँचल' के संबंध में उनका विचार द्रष्टव्य है- *"हिन्दी के एकाधिक उपन्यासकारों ने दो-चार स्त्री-पुरुषों के, यहाँ तक कि एक ही स्त्री या पुरुष के जीवन को लेकर खासे अच्छे उपन्यास लिखे हैं। किन्तु जो उपन्यासकार व्यष्टि को नहीं, समष्टि को ही, सिद्धांत में प्रधानता देते हैं, वे भी अपने आदर्श को उपन्यास का रूप देने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। हिन्दी के ऐसे उपन्यासकारों ने यदि समष्टि का चित्रण किया भी हो तो कुछेक पात्रों को ही सामान्य लक्षण टाइप बनाकर, अर्थात् प्रधानता व्यक्ति या व्यक्तियों की ही रही है, समूह गौण, प्रासंगिक ही बना रह गया है। यह हिन्दी के उपन्यासों का एक अभाव है।"* हाँलाकि, उन्हें यह आभास था कि इसे पढ़ने में पाठकों को परेशानी आ सकती है, इसलिए वह अपना सुझाव देते हैं- *"प्रत्येक अध्याय के बाद पाद-टिप्पणियों के रूप में, प्रयुक्त शब्दों के परिनिष्ठित रूप भी प्रस्तुत करते।"*

'मैला आँचल' पर अगला आलेख उपेन्द्रनाथ अश्क का है, जो रेणु की रागात्मक एवं चित्रात्मक लेखन शैली पर मुग्ध हैं। एक तरफ वह इसकी बानगी कुछ इस तरह दिखाते हैं- *"रेणु गायन और वादन शास्त्र के पंडित मालूम होते हैं। ढोल हो, मृदंग हो या कोई दूसरा साज हो, नृत्य का गीत हो या लोकगीत की तान... जहाँ-जहाँ भी उन्होंने इसका वर्णन किया है, शब्दों में जान डाल दी है।"* वहीं अश्क रेणु के लेखकीय तेवर को कुछ यूँ देखते हैं- *"लगता है जैसे भट्ठी तप रही है और नित नये लोकगीत वहाँ से ढलकर निकल रहे हैं। अजाने में ही यह हो रहा है, ऐसी बात नहीं। इसके पीछे एक सचेत प्रयास है, लोकगीतों के द्वारा तीव्र व्यंग्य उस व्यवस्था के प्रति लेखक ने किया है जहाँ ब्राह्मण चमारिन और भंगन को कुएँ पर तो पानी नहीं पीने देता, पर उसके साथ रात काटने को बुरा नहीं मानता।"*

'मैला आँचल' पर ही देवराज उपाध्याय का अगला आलेख संलग्न है, जो गहन अध्ययन-मनन के साथ लिखित है। आमतौर पर हम अपनी सारी सामग्री पश्चिम से, अंग्रेजी से उधार लेते हैं। यह स्थापित तथ्य है कि साहित्य की आधुनिक विधाएँ यथा- कहानी, उपन्यास या अन्य गद्य विधाएँ पश्चिम से, खासकर अंग्रेजी से आयातित हैं। तो देवराज आंचलिक उपन्यासों का उत्स भी अंग्रेजी उपन्यासों से निकाल लाए हैं।

और फिर हिंदी के कुछ उपन्यासों को आंचलिकता के खाने में डालते हुए 'मैला आँचल' की आलोचना करते हैं। इसके लिखने के इतिहास पर विचार करते हुए वह बताते हैं– "*1942 की राजनीतिक क्रांति तथा भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति एक ऐसा ही भयानक स्फोट था, जिसने भारतीय जीवन के कच्चे चिट्ठे को हमारे सामने खोलकर रख दिया। मनुष्य कितनी ऊँचाई तक उठ सकता है, ऐसे भी दृश्य देखने को मिले, पर साथ ही वह कितना पतित हो सकता है, कायर, धूर्त और पीठ में छुरा भोंकनेवाला हो सकता है, ऐसे भी नजारे कम सामने नहीं आये। कुछ इसी तरह के थीम के अंचल से 'मैला आँचल' आंचलित है।*" यहाँ देवराज उनकी भाषाई लेखन की भी आलोचना करते बताते हैं कि रेणु के उपन्यासों के स्थानिक शब्द यदि ताकत है, तो वे उसकी कमजोरी भी हैं, जिसे वह कुछ यों स्पष्ट करते हैं– "*ऐसे शब्दों के कुछ कम प्रयोग से उपन्यास की कोई क्षति नहीं होती। मैं जब अंग्रेजी उपन्यासों को पढ़ता हूँ तो स्थानिक (स्लैंग्स) के अति प्रयोगों से निश्चय ही मुझे आनन्दोपलब्धि में बाधा का अनुभव होता है।*" इस प्रकार के उनके रेखांकित कमियों को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

दिलजीत दिव्यांशु ने अपनी आलोचना '*मैला आँचल : मानव केन्द्रण एवं रचनात्मक गठन के संदर्भ में*' की है और निर्मल वर्मा के आलेख का संदर्भ देते स्थापित किया है कि "*रेणु में यह 'आविष्कार और परख' की शक्ति निहित रही है। यही कारण है कि वे 'मैला आँचल', 'परती: परिकथा' तथा 'जुलूस' जैसी रचनाएँ हमें दे पाए। रेणु न केवल एक संघर्षशील लेखक रहे, बल्कि एक संघर्षशील व्यक्ति भी रहे। एक ओर वे नेपाल की क्रान्ति में युद्ध के मोर्चे पर डटे रहे, दूसरी ओर बिहार आंदोलन में और तीसरी ओर लेखन के संघर्ष में। रेणु की रचनाओं को केवल शाब्दिक या शाब्दिक खिलवाड़ कह पाना संभव नहीं है, क्योंकि रेणु ने बहुत निकट से मनुष्य की पीड़ा, मजबूरी और गरीबी को देखा था।*" अपने आलेख में दिव्यांशु इसे स्पष्ट करते हैं– "*रेणु का रचना संसार, शब्द-खिलवाड़ का पर्याय न होकर मानवीय अस्तित्व और संघर्ष का रचना-संसार है और कथानक, पात्र, परिवेश, भाषा एवं शिल्प मानवकेन्द्रण के रचनात्मक गठन में ही रेणु के यहाँ सार्थक हो पाते हैं।*"

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका, इस ग्रंथ को अनेक खण्डों में देखा जा सकता है। तो इस ग्रंथ के आगे के आलेख 'परती: परिकथा' पर हैं। नंददुलारे वाजपेयी ने अपनी सम्यक दृष्टि इस पर डाली है– "*मैला आँचल' की कथा आंचलिक होते हुए भी भारतवर्ष के राजनीतिक दलों को केन्द्र में रखकर चली है। इस प्रकार उक्त उपन्यास में राजनीतिक दृष्टिकोण बचाया नहीं जा सका है। दूसरी बात यह है कि उस कृति में लेखक की भाव-धारा रोमांटिक प्रेमचर्चा से प्रभावित है, किन्तु 'परती: परिकथा' एक अधिक प्रौढ़ लेखक की भांति रेणु ने राजनीतिक विचारधारा के बदले अधिक व्यापक राष्ट्रीय प्रगति को उपन्यास के केन्द्र में रखा है। इस कारण कृति में किसी राजनीतिक दल विशेष पर प्रत्यक्ष या परोक्ष टिप्पणी नहीं की गयी है। दूसरे शब्दों में यह कृति अधिक तटस्थ और अधिक वास्तविक जीवन का आलेखन करती है। इसमें 'मैला आंचल' की भांति हल्के रोमांस का भी आरोप नहीं है।*"

'*परती: परिकथा*' पर एक और आलेख प्रेमशंकर का है, जिसमें वह रेणु द्वारा एक अजाने, अचिन्हे स्थान को वैशिष्ट्य प्रदान करने का श्रेय देते लिखते हैं– "*परानपुर ग्राम को लेखक ने एक वैशिष्ट्य प्रदान किया है, उसमें एक असाधारण गरिमा दी है। काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र आदि अनेक स्थान का ऐतिहासिक गौरव है, जिसका प्रयोग कोई भी लेखक किंचित् सरलता से कर सकता है। किन्तु रेणु ने देश के एक छोटे से अचिन्हे अंचल को लिया है और अपनी लेखनी से उसकी पूजा रचा ली है।*" और इस गाँव की विशिष्टता ऐसी, जो किसी भी विकासशील गाँव की होती होगी। इसमें व्यंग्यात्मक ध्वनि है, शब्द हैं और इनसे सभी

सहमत हैं। रेणु के इस उपन्यास की चर्चा करते कहते हैं- "*कथाएँ गढ़ना और उन्हें रोचक ढंग से सुना देना, जहाँ रेणु की प्रमुख कला है, वहीं उनका दूसरा गुण है चरित्र-सृष्टि। 'परती: परिकथा' के पात्रों की संख्या देखकर आश्चर्य होता है।*" भूमि समस्या को इस उपन्यास का मूलाधार मानते हुए वह यह मानते हैं कि इस उपन्यास में जातीय-समस्या को भी सामने रखा गया है। अब समस्या है, तो समाधान क्या हो? इनके अनुसार- "*लेखक की दृष्टि में समस्या का समाधान सांस्कृतिक है, जिसके सहारे समस्त ग्रामीण समाज को एक सूत्र में आबद्ध किया जा सकता है।*" इसके आगे वह अपना निष्कर्ष निकालते हैं- "*परती: परिकथा के पात्र देव-दानव में विभाजित नहीं हैं। वे अपने वास्तविक रूप में सामने हैं। एक विराट चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रेमचंद ने अपने प्रिय पात्रों को बड़ी ऊँचाई पर पहुँचाया है। रेणु में ऐसा पक्षपात कम है।*"

चंद्रकांत बांदिवडेकर ने अपने भारी-भरकम आलेख में *परती: परिकथा* की रोचक शैली में आलोचना की है। वह स्पष्ट करते हैं- "*यह सत्य ही है कि अगर देश भू-भाग नहीं है, वहाँ के बाशिंदे और उनकी संस्कृति है, तो स्वातंत्र्योत्तर काल में आधुनिकता के जोरदार प्रयासों के बावजूद भारत का सही रूप देहातों में ही देखा जा सकता है।*" इस ग्रामीण संस्कृति को ध्यान में रखते हुए *परती: परिकथा* के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं- "*मन की भूमि परती पड़ जाये तो समूची औद्योगिक संस्कृति निरर्थक है। यांत्रिकता के बढ़ते कदमों के नीचे आने से बचने का एकमात्र उपाय है मनुष्य की हास्य-उल्लासमयी रस-संवेदन को प्रयत्नपूर्वक निरंतर जागरूक रखना। यह रस-संवेदना यदि तीव्र है, तो जाति की, रूढ़ि की, उच्चनीचता की दीवारें रिस-रिस कर ढह सकती हैं और मनुष्य को प्रतिहिंसा और क्षुद्र स्वार्थ के शिकंजों से मुक्त रखा जा सकता है।*" ऐसी बात नहीं कि वह इस उपन्यास की कमियों को रेखांकित नहीं करते। वह उसपर भी अपनी नजर दौड़ाते स्पष्ट करते हैं- "*रेणु के उपन्यास में हमें दीन-दुखियों के घर की अंदरूनी स्थितियाँ देखने को नहीं मिलती। परानपुर की नट्टिनटोली में, रैदासटोली में क्या पकता है, कितना और कैसे पकता है, इसका कोई बोध नहीं होता है।*" वैसे वह इसके आगे जाकर रेणु के प्रति अपनी सहमति जताते हैं- "*गाँधीवाद, समाजवाद, सर्वोदयवाद सब सही हैं बशर्ते कि मनुष्य के मन की धरती परती न हो। समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व उत्पन्न करने वाले इन तीनों दर्शनों की परीक्षा भारत में हुई है और तीनों की परिणति नि:शक्ति में हुई है। मानव की मनोभूमि को पहले उर्वरा बनाना आवश्यक है। उसमें सत्ता और वासना से अधिक कुछ महत्वपूर्ण है, यह मनवाने की आवश्यकता है।*" अपने इस दीर्घकाय, मगर विचारोत्तेजक आलेख में वह रेणु की राजनीतिक रूझान या मन:स्थिति को भी कसौटी पर कसते हैं। साथ ही गाँवों के सरकारी कार्यों में फैले भ्रष्टाचार पर भी अपनी दृष्टि जमाते हैं- "*सर्वे सेटलमेंट हो, सर्वोदय का भूमिदान कार्यक्रम हो, परती जमीन पर सरकार द्वारा कब्जा किए जाने की बात हो या परती की सिंचाई-योजना के लिए कोशी की धारा को मोड़ने की बात हो, लुत्तो जैसा शासक-पार्टी का कार्यकर्ता अपना वैयक्तिक स्वार्थ देखेगा अथवा अपने जानी दुश्मन जितेन्द्र की पीठ दागने के मौके का इंतजार करेगा।*"

रेणु के जातीय तीखेपन से भरे तल्ख अनुभवों को भी बांदिवडेकर ने रेखांकित किया है- "*जातिवाद का यह संस्कार इतना दृढ़ हो गया कि भूमिहार डॉक्टर को राजपूत धमकी देते हैं, कायस्थ के खिलाफ दरख्वास्त दी जाती है और गाँव में डॉक्टर टिक नहीं पाते। नट्टिनटोली की ताजमनी तम्बू लेकर नहीं जाती मेले में तो जाति की नाक कट जाती है। चमारिन टोली की मलारिन के हाथ की छूई चाय सुवंश बाबू पीते हैं तो जाति का कायदा टूट जाता है। सुवंश की माँ जितेन्द्र को गालियाँ देती है तो जाति के प्रति विद्वेश कितना उफनकर लहर आता है- 'क्रश्चनवाँ, मुसलमनवाँ, नट्टीबाजखाँ।*" गाँवों में जड़ों तक गड़े-धँसे जातीय

जहर को रेणु जैसे सतह पर लाकर रखने का साहस दिखाते हैं, जिससे लिए उन्हें भी जहर का घूँट पीना पड़ा था। फिर भी तमाम नकारात्मकता के बावजूद रेणु की आशावादिता पर भी वह टिप्पणी करते हैं– "*भारतीय जनता में वे ऐसा गुण या वैशिष्ट्य देखते हैं, जो उन्हें आश्वस्त करता है। वह क्या है? भारतीय जनता की सामूहिक उत्सवप्रियता, सामूहिक आनंदोल्लास की पुराचीन परंपरा, भारतीय जनता की अद्भूत सहिष्णुता और संकीर्णता के बावजूद जनता में प्रवाहित उदार मानवीयता का स्रोत।*"

एक स्वतंत्र कलाकृति के रूप में 'परती: परिकथा' की धनंजय वर्मा परख करते हैं, तो गोपीकृष्ण प्रसाद इस उपन्यास के विवादास्पद किए जाने पर उसका औचित्य सिद्ध करते हुए स्पष्ट करते हैं– "*प्रेमचंद के बाद हिंदी उपन्यास की दो धाराएँ चलीं... एक जैनेन्द्र, अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-धारा और भौतिकवादी उपन्यास की दूसरी धारा। इस दूसरे वर्ग से मेरा मतलब भौतिकवादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि बहिर्जगत की घटनाओं-व्यापारों पर रचित कृतियों की प्रणाली से है। रेणु इसी धारा के श्रेष्ठ लेखक हैं।*"

श्यामाकांत झा अपने आलेख में इस बात की पड़ताल करते हैं कि 'परती: परिकथा' वाकई रेणु की वसीयत है! उन्होंने एक कानूनी वसीयत समान इस उपन्यास के तकनीक का जो विश्लेषण किया है, वह अपने आप में दिलचस्प है।

'पल्टू बाबू रोड' रेणु का वह उपन्यास है, जो कस्बाई जीवन पर आधारित है, जिसके एक छोर पर गाँव तो दूसरे छोर पर शहर है। यहाँ से ग्रामीण गंध गई नहीं, और शहरी मानसिकता आने लगी है। जाहिर है भाषा भी उसी अनुरूप है। लगभग पूरी तरह चर्चित और लोकप्रियता प्राप्त कर चुके रेणु समझ गए थे कि कोई डिक्शनरी लेकर उपन्यास नहीं पढ़ता और देशभर के पाठकों के लिए सार्वजनिन हिंदी ही प्रभावी हो सकती है। अपनी भाषा के प्रति पूरी तरह सचेत रेणु ने यहाँ इसका ख्याल रखा है। रेणु की तरफ से आलोचक दिनेश्वर प्रसाद जैसे इशारा करते हैं– "*यह रोड जिस प्रकार पल्टू बाबू को आत्मविनाश तक ले आती है, वह एक संकेत और चेतावनी है, हम, जो पल्टू बाबू रोड पर चल रहे हैं, आत्मविनाश की ओर चल रहे हैं।*"

इसी प्रकार शरणार्थी समस्या पर लिखे गए उपन्यास 'जुलूस' की आलोचना बैजनाथ राय ने की है कि उस समय की स्थिति कितनी कारुणिक और वीभत्स रही होगी। भारत विभाजन और शरणार्थी समस्या पर, खासकर पश्चिम पाकिस्तान और सीमावर्ती हिंदीभाषी क्षेत्रों पर उसके प्रभाव पर बहुत कुछ लिखा गया है। पूर्वी पाकिस्तान पर भी बहुत कुछ लिखा गया है, मगर वह अधिकांशत: बंगाल और असम में उसके प्रभाव को लेकर है। इस मामले में 'जुलूस' कुछ हटकर है, क्योंकि यहाँ बाँग्ला भाषा की मुठभेड़ हिंदी से होती है। पंजाबी में कर्मठता है, तो बाँग्ला में भावुकता है। और यही भावुकता स्वार्थ के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा था। '*देश की भावात्मक-सांस्कृतिक एकता के प्राथमिक दस्तावेज*' के रूप में उपन्यास 'जुलूस' को देखते हुए बैजनाथ राय ने सम्यक् पड़ताल करते कहते हैं कि "*एक अंचल की कथा कहते-कहते उन्होंने पूरी मानव-संवेदना का मूर्त रूप अपनी कथाओं में उपस्थित कर दिया है।*" पुन: जुलूस की कथा का सार प्रस्तुत करते बताते हैं– "*इसकी कथा पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) से आए बंगाली शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए बनाए गए नवीनगर से आरंभ होकर अपनी संवेदनशीलता द्वारा पूरे अंचल के माहौल पर छा जाती है और उदात्त चरित्रवाली प्रधान नायिका पवित्रा के माध्यम से संपूर्ण जन-मानस को स्पर्श कर प्रेम व सहानुभूति द्वारा जाति-पाँति, प्रांतीयता एवं अवर्ण-सवर्ण की कृत्रिम चहारदीवारी को ध्वस्त कर नए ढंग से पारस्परिक संबंधों की लहलहाती लता को मानवता की उर्वर धरती पर उगा-बढ़ाकर प्रसारित कर देती है।*"

इस प्रकार देखा जाए तो रेणु ने शरणार्थी समस्या और उनके पुनर्वास पर अपनी तीखी नजर रखते कलम चलाई है। इस अंचल में पहले से ही सामाजिक समस्याएँ और तनाव थे, जो बाहरी लोगों के आगमन के साथ और बढ़े। और इन सबको रेणु ने कुशलतापूर्वक इसमें उकेरा है। इसमें सामाजिक विसंगति है, राजनीतिक विद्रूपता है, तो मनुष्यता को उद्‌घाटित करते तथ्य भी हैं। संस्कृति तो खैर अपने पूरे तेवर के साथ इसमें उपस्थित है ही। समस्या की जानकारी हो, तो आधा से अधिक समाधान भी निकल आता है। इस आधार पर रेणु ने समाधान की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया है। रोचकता तो खैर रेणु साहित्य की विशेषता है, मगर साथ ही यह सोचने को विवश भी करता है।

'दीर्घतपा' रेणु का चर्चित उपन्यास रहा है, जिसकी पृष्ठभूमि शहरी है। भोलानाथ मिश्र अपने आलेख में इसकी आलोचना करते कहते हैं- "*वास्तव में आंचलिक उपन्यासों में जिन सीमित अंचलों के दायरे में रखकर सामाजिक बुराइयों या कुरूपताओं का यथार्थ चित्रण एक बँधी-बँधाई परिपाटी में किया जाता है या क्षेत्रीयता को उभारा जाता है, रेणु इस उपन्यास में उससे बहुत ऊपर उठ गये हैं।*" सचमुच इस उपन्यास की भाषा ठेठ ग्रामीण नहीं है और इसलिए यह सभी वर्गों के लिए पठनीय बन गया है। पूर्व का 'बाँकीपुर' अब 'पटना' है और इसी बाँकीपुर के शहरी जीवन का सटीक चित्रण है- "*शहर को जो सारी चीजें शहर बनाती हैं, वे सब बाँकीपुर में मौजूद हैं और इसके अलावा कुछ और भी ऐसे तत्व हैं, जो इसे बिहार क्या भारत के शहरों में एक विशिष्ट श्रेणी प्रदान करते हैं। यहाँ हिन्दीभाषियों में भोजपुरी, मैथिली, बाँकीपुरियाभाषी तथा बंगला, उड़िया, नेपाली भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी बोलने वाले लोगों का समागम हुआ है और वे प्रायः एक मंच पर मिलते रहते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा प्रशासकीय गतिविधियाँ यहाँ निरंतर सक्रिय रूप से चलती रहती हैं।*"

इसके आगे मिश्र जी ने शहरी जीवन पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं, जिन्हें रेणु ने अपने लेखन के लिए आधार बनाया है। साथ ही संस्कृतियों में संघर्ष कैसे होता है, तो इसे देखने के लिए यह उपन्यास जरूर पढ़ना चाहिए। उससे आगे जाकर आदिवासियों के बदले चरित्र का भी इस उपन्यास में दिग्दर्शन हुआ है- "*लेखक ने दिखाया है कि जिन आदिवासियों के ऊपर उच्च वर्ग के लोगों ने आजतक बलात्कार या शोषण किया है, उनके दिन लद गये हैं। और आदिवासियों में भी 'बागे' जैसे युवक आगे आ रहे हैं, जो संभ्रान्त, दूसरों को ठगने वाली श्रीमती आनंद जैसी चालाक औरत को भी ठगकर अपनी भोग्या बना सकता है।*" हम जिसे नग्न यथार्थ कहते हैं, वह अपने पूरे मुखर रूप के साथ इस उपन्यास में है, जिसमें नारी समस्या के बहाने जाति, धर्म, क्षेत्र, प्रांत, भाषा आदि के भेदभावों को प्रस्तुत किया गया है और जिसे देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

रेणु के प्रथम कथा संग्रह 'ठुमरी' के कहानियों को आधार बना विश्वनाथ तिवारी ने आलोचना करते हुए उसे '*मनुष्य के भीतर छिपी मनुष्यता और उसके राग*' को देखने का प्रयास किया है। लगभग इसी तर्ज पर कृष्णानंद कृष्ण ने अपने आलेख में रेणु द्वारा प्रस्तुत आम आदमी को परखने का प्रयास किया है। '*रेणु की कहानियों के कथानक विन्यास*' के बहाने अंजलि तिवारी ने हिंदी की आधुनिक कहानियों, खासकर 'नई कहानी' आंदोलन के दौरान लिखी गई कहानियों का बढ़िया विश्लेषण किया है। हाँलाकि रेणु को 'नई कहानी' में लिया नहीं गया, फिर भी उनके कथानक-विन्यास आलोचकों को चकित-विस्मित करते हैं। यहाँ आलोचक अंजलि कहती हैं- "*रेणु के कथा में पूर्वदीप्ति पद्धति का बड़ा महत्व है अर्थात् लेखक को समय के एक सीधे क्रम में उपस्थित नहीं करता, बल्कि समय-समय पर अतीत को वर्तमान के बिन्दु पर ले आता है और अतीत, वर्तमान के संयोग से वह एक जटिल और संक्रान्त परिस्थिति या मनःस्थिति की सर्जना करता*

है। इससे कहानी की संवेदना अधिक गहरी और संक्रान्त हो उठती है।" आगे वह निष्कर्ष निकालती हैं- "*रेणु की कहानियों के कथानक की परिणति अन्तिमता प्राप्त अंत में नहीं होती, बल्कि एक गत्वर और संक्रान्त प्रभाव में होती है। इस प्रकार इन कहानियों का अंत एक जटिल गत्वर बिम्ब के रूप में दिखाई पड़ता है, जैसे 'तीसरी कसम' में एक ओर गाड़ी से हीराबाई जा रही है, दूसरी ओर बैलगाड़ी से हिरामन लौट रहा है और लगता है, ये दोनों क्रियाएँ गतिमान हैं, समाप्त नहीं हुई हैं और यह अंत सुख-दुख, प्रेम और विपत्ति के द्वन्द्व का एक अद्‌भुत प्रभाव छोड़ता है।"*

अपने आलेख '*तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफाम का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन*' पर विस्तृत प्रकाश डालते उनकी कथा-शैली पर गंभीरतापूर्वक सराहनीय विचार किया है। इसके आगे देवराज उपाध्याय रेणु के प्रथम कथा-संग्रह 'ठुमरी' के साथ उपस्थित हुए हैं, जिसमें वह बताते हैं- "*रेणु ने प्रेमचंद की परंपरा को अग्रसर किया है, वे आगे की कड़ी हैं। पर फिर भी प्रेमचंद महान साहित्यकार हैं, जिसकी महत्ता तक रेणु पहुँच नहीं पाते।"* अपने निष्कर्ष पर वह तर्क देते हैं- "*रेणु तू देखलै त, बाकी गुनलै ना।"* अपने इस सख्त आलोचना के पक्ष में वह दृढ़तापूर्वक खड़े हो कहते हैं- "*मैं शायद जरूरत से अधिक कड़ा पड़ गया हूँ। पर उसकी आवश्यकता है। मैं पागल भी नहीं बनूँगा। रेणु बालक को उन माताओं से बचाऊँगा, जो उसे चूम-चूमकर उसका दम घोंट रही हैं।"*

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका, यह ग्रंथ काफी सुनियोजित ढंग से, काफी सूझ-बूझ के साथ तैयार किया गया है। रेणु के दूसरे कथा-संग्रह '*आदिम रात्रि की महक*' की आलोचना रमेशचंद्र सिन्हा ने प्रस्तुत की है। इस संग्रह की कहानियों की पड़ताल करते हुए वह निष्कर्ष निकालते हैं- "*नगरोन्मुखता के कारणों की गहराई में न जाकर रेणुजी ने इन दो कहानियों में केवल भावुकता का इजहार किया है। गाँव से पलायन का कारण मूलत: आर्थिक है और शहरीकरण औद्योगिक विकास की अनिवार्यता। रेणुजी ने इस स्वरूप को नजरअंदाज करके कहानियों को मानो पंगु बना दिया है।"* लेकिन आगे की कहानियों पर उनका मंतव्य कुछ अलग है- "*जलवा', 'आत्मसाक्षी' और 'प्रजा-सत्ता' लिखनेवाला कथाकार यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़ा है और यथार्थ को शब्द देने के लिए उसमें यथोचित साहस एवं कलात्मकता भी है।"*

रेणु के तीसरे कथा-संग्रह 'अगिनखोर' का विश्लेषण सुवास कुमार ने सधे हाथों संतुलित ढंग से प्रस्तुत किया है कि "*अब रेणु की कथाभूमि गाँव से शहर तक फैल चुकी है। शहर और गाँव के फर्क को एक पतले रेशमी फीते से नापते हुए रेणु बतलाते हैं कि किस प्रकार शहर गाँव की सारी स्नेह-सहानुभूति को अपने चाकचिक्य के कठोर जबड़ों में लील जाता है। उनके अनुसार शहरीकरण ने आदमी को कम असहाय और लाचार नहीं बनाया है। फिलहाल आंचलिकता भले ही 'आउट ऑफ डेट' क्यों न घोषित कर दी गई हो, वह रेणु की मजबूरी है, क्योंकि उनमें यह उधार लिया गया फैशन नहीं है... यह वे स्वयं हैं।"* यहाँ आलोचक सुवास स्पष्ट देख रहे हैं कि "*ये रेणु के समय से निरंतर जुड़े रहने की कहानियाँ हैं। उम्र के फासले के बावजूद रेणु खुद को नई पीढ़ी से संवाद की स्थिति में पाते हैं, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस पीढ़ी को उन्होंने वास्तविक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है, उसकी समस्त कमजोरियों और शक्तियों से परिचित हुए हैं।"* युवा पीढ़ी को रेणु किस प्रकार लेते हैं, वह जैसे हमसे परिचित कराते हों- "*व्यवस्था का विरोध करनेवाले इन विद्रोहियों की यह विडम्बना होती है कि ये स्वत: अपने भीतर व्यवस्था में खुद बने रहने की गुप्त आकांक्षा से पीड़ित रहते हैं। क्रांति को आधुनिकता और फैशन के सिक्कों से भुनानेवाली प्रतिभाओं पर रेणु ने प्राय: तीखे व्यंग्य किये हैं। रेणु की अधिकांश रचनाओं में इस सार्थक व्यंग्य का स्वर सुना जा सकता है। नयी पीढ़ी में एक तो निहायत ही बोदा किस्म के लोग हैं, और दूसर वर्ग में जो राहभूली*

प्रतिभाएँ हैं, वे अकारण ही डैशिंग... फिर भी लेखक की समझ में अंततः दूसरा वर्ग ही बेहतर है। रेणु की विश्लेषणात्मक दृष्टि से यह छिपा नहीं रहता कि अपरंपरा और असंस्कृति की लाख हामी भरने के बावजूद अपनी 'आईडेंटीटी' के लिए किसी मोटे संबंध की भूख इस पीढ़ी को पूरी तरह त्रिशंकु बना देती है। स्वयं पूरी तरह से लावारिस पाकर यह प्रतिभा खुद को कटखना कुत्ता बना देती है। मगर इन प्रतिकूलताओं के बावजूद लेखकीय संवेदना इस पीढ़ी को मिली है। और इस प्रकार सर्वथा नये और व्यापक संदर्भों को पकड़ती हुई रेणु की 'अगिनखोर' कहानी अज्ञेय की ऐतिहासिक 'आ तू' कविता से कहीं आगे का आख्यान है... साथ ही अपनी मनोवैज्ञानिकता, तीखी आलोचनात्मक दृष्टि और विशिष्ट आंतरिक सहानुभूति के कारण स्वतः संपूर्ण भी है।" रेणु के इस कथा-संग्रह की आलोचना करते हुए वह इसमें ताजगी ग्रहण करती हुई रेणु की भाषा के बदलते स्वरूप को भी देखते हैं।

बीसवीं सदी क्रांतियों के लिए जाना जाता रहा है। और इन्हीं क्रांतियों ने इतिहास भी निर्मित किए हैं। भारत के लिए तो यह खैर महत्वपूर्ण रहा ही है। इन क्रांतियों के बीच रेणु कैसे रहे होंगे, यह जानना महत्वपूर्ण है, क्योंकि रेणु ने न सिर्फ भारत की, बल्कि पड़ोसी देश नेपाल में भी सक्रिय भागीदारी की थी। शिवनाथ जी अपने आलेख 'नेपाली क्रांतिकथा' के बहाने बताते हैं। इस मोर्चे पर वह एक क्रांतिकारी तो थे ही, रिपोर्टर का भी काम किया, जो उनका रिपोर्ताज कहा जाता है। स्वाभाविक ही यह जीवंत है। आलोचक के अनुसार- *"इस क्रांति के बारे में रेणु की जितनी जानकारी है, उसे वे कहते चले गये हैं, अपने जोरदार, असरदार तरीके से और अपनी स्वाभाविक भाषा में। इसलिए इसका मूल्य एक साहित्यिक बयान का ही अधिक है, विचार का, दर्शन का भारीपन इसमें नहीं है, जो इसे और भी अधिक उत्कृष्ट बनाता। इसमें 'कहानीकार रेणु' हैं, 'चिंतक रेणु' नहीं।"*

इस ग्रंथ के संपादक-संयोजक ने परिश्रमपूर्वक रेणु से संबंधित सामग्री जुटाई थी। इसी क्रम में उन भाषाओं के आलेखों का या तो अनुवाद प्रस्तुत किया गया, या स्वतंत्र रूप से लिखवाये गये, जिनमें उस भाषा के आंचलिक उपन्यासों से रेणु के आंचलिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन है। और इस क्रम में सुरेश चंद्र द्विवेदी ने गुजराती के आंचलिक उपन्यासों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम वह गुजराती आंचलिक उपन्यासों के इतिहास का विवेचन प्रस्तुत करते हैं, जिसको पढ़ना स्वयं में रोचक है। इस आलेख में उन्होंने तुलनात्मक पर्यालोचन कर उनकी साम्यता-विषमता पर प्रकाश डाल, कुछ निष्कर्ष भी स्थापित किये हैं कि *"मात्रा और गुण के विचार से देखने पर ऐसा लगता है कि गुजराती के आंचलिक उपन्यास विकास का परिचय देते हैं, तो गुणात्मक विकास 'मैला आँचल' का निश्चय ही श्लाघ्य है।"*

मराठी के विद्वान न. चिं. जोगलेकर ने सर्वप्रथम आंचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ प्रस्तुत की है, जो पाठकों के लिए अत्यंत उपयोगी है। उसके पश्तात् रेणु और मराठी लेखक र.वा. दिघे के आंचलिक उपन्यासों की जानकारी दी है। और इसी जानकारी के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है- *"भारतीय किसान अपनी रूढ़िगत परंपरा और अज्ञान में कितना जकड़ा हुआ है, इसे यथावत् स्वरूप में दोनों ने प्रकट कर दिया है। जातीय संकीर्णता किस प्रकार से नए राजनीतिक दलों के स्वार्थों का साधन बनती हैं और ग्रामीण जनता को आपसी वैमनस्य, सांप्रदायिकता तथा अस्पृश्यता के विष से खोखला करने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हुई है, इसे भली-भांति प्रदर्शित किया गया है। अनेक जाली मुकदमे, फरेबियाँ, आगजनी के काण्ड, बलात्कार, लूट-खसोट, खून-खराबा जैसे कार्य कितनी बेरहमी से और बेखटके चलते रहते हैं, इसे भी अच्छी तरह इन दोनों ने अपने उपन्यासों में जीवंत किया है। ग्राम-पंचायत के चुनावों में भी यह विष फैलता है। लोगों में अनेक दलबंदियाँ हो जाती हैं। जमीन के टुकड़े और छोटे बनकर धरती अनुर्वर बनकर*

ऊसर हो जाती है। गरीब और गरीब बनते चले जाते हैं। साहूकार और जमींदार और अधिक धनी और अधिक जमीन के स्वामी बन जाते हैं। कानून और यथार्थ जीवन में पार्थक्य उत्पन्न हो जाता है। इस यथार्थाशय को दोनों उपन्यासकारों ने अपने आंचलिक उपन्यासों में बड़ी स्पष्टवादिता के साथ अभिव्यक्त कर दिया है।"

रेणु बांगला साहित्य के काफी करीब रहे। ऐसे में उनके आंचलिक उपन्यासों की बांगला आंचलिक उपन्यासों से तुलना बिलकुल सामयिक और दिलचस्प हो सकता है। यह मानकर चला जाता है कि पूर्ववर्ती पड़ोसी रचनाओं का प्रभाव तत्कालीन रचनाकारों पर पड़ जाता है, जिससे उनकी आभा धुंधली होती है। रामबहाल तिवारी अपने आलेख '*आंचलिक उपन्यास : बंगला और हिंदी*' में इसे देखने-परखने का प्रयास किया है। वह इसके लिए आंचलिक उपन्यासों के इतिहास से ही आरंभ करते हैं, जो पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक है। अंग्रेजी आंचलिक उपन्यासों के बाद वह बंगाल के आंचलिक उपन्यासों की चर्चा करते हैं, जो बंकिम चंद्र चटर्जी से शुरू होकर ताराशंकर वंद्योपाध्याय तक जा पहुँचता है। इसी प्रकार आलोचक तिवारी हिंदी के उन उपन्यासों का जिक्र करते हैं, जिनमें आंचलिकता का पुट दिखाई पड़ता है। और इसी क्रम में वह रेणु और उनके समकालीन सतीनाथ भादुड़ी की आलोचना पर उतर आते और निष्कर्ष निकालते हैं- "*अगर कहा जाय कि 'ढोंड़ाईचरितमानस' से अनुप्रेरित होकर रेणुजी ने 'मैला आँचल' लिखने की योजना बनाई होगी, तो शायद अन्याय नहीं होगा।*"

"*हिंदी के फणीश्वरनाथ रेणु प्रेमचंद के और बंगला के ताराशंकर बनर्जी, शरत्‌चंद्र एवं रवीन्द्रनाथ के उत्तराधिकारी साहित्यकार हैं।*" यह घोषित करते हुए रामचंद्र राय ने भी अपने आलेख 'रेणु एवं ताराशंकर की कहानियाँ' में यही तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वह जैसे इन दोनों के व्यक्तिगत जीवन में झांकते हुए खुलासा करते हैं- "*निष्कर्षतः रेणु एवं ताराशंकर ने बहुत करीब जाकर मानव की पीड़ा, वेदना, मजबूरी, और दीनता का अनुभव किया है। उनका यही अनुभव उनलोगों की कहानियों में संवेदना लेकर उभरा है। यही संवेदना उनलोगों की कहानियों में इतनी नवीनता लाई है कि उनके सभी पात्र जीवंत एवं गतिशील हैं।*"

इस ग्रंथ में रेणु के बहाने भारतीय आंचलिक उपन्यासों का कुछ कमियों या सीमाओं के साथ जैसे साहित्येतिहास ही प्रस्तुत है। कमियाँ इस रूप में कि इसमें दक्षिण के समृद्ध आंचलिक उपन्यास समाहित नहीं हैं। सीमाएँ इस रूप में कि इस ग्रंथ के संयोजक रजनीकांत सिन्हा ने बहुत प्रयास किया, मगर दक्षिणी भाषाओं पर उन्हें आलेख नहीं मिल सके। उनकी इन सीमाओं को उनके शब्दों में महसूस किया जा सकता है- "*जिन विद्वानों ने इसमें भाग लिया है, उन्होंने यज्ञ की महत्ता को ही परखने की चेष्टा की है। जिन विद्वानों ने इसमें भाग नहीं लिया, उनमें से अधिकांश तक मैं पहुँच ही नहीं सका और जिन कुछ-एक के पास पहुँच भी सका, वे इस यज्ञ के संयोजक की पात्रता और क्षमता को संदिग्ध दृष्टि से देखते रहे और यज्ञ की संभावित विध्न-बाधाओं के प्रति आशंकित रहे। कुछ ऐसे भी रहे, जिन्हें इसमें कोई यश-प्राप्ति के आसार नहीं नजर आये।*"

उनके पुत्र आलोक सिन्हा के कथनानुसार- "*सिर्फ यही नहीं, उन दिनों मुद्रण-प्रकाशन भी इतना तीव्र और अधुनातन नहीं था। ऐसे में धैर्यपूर्वक इसका मुद्रण किया गया। मैं खुद इसके अनेक लेखों के प्रूफ देखने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका था। जो भी हो, इसके प्रकाशन के उपरांत इसका भरपूर स्वागत हुआ। रेणु के विराट जीवन को जानने-समझने के लिये यह पुस्तक एक प्रामाणिक दस्तावेज के समान समादृत है। बीसवीं सदी के आठवें-नवें दशक में तब इस प्रकार के फोन संपर्क नहीं थे और न ही इलेक्ट्रानिक सुविधाएँ तथा आवागमन के साधन थे, जिससे किन्हीं व्यक्तित्व तक पहुँचना या संपर्क साधना संभव हो पाता था। बस*

ले-देकर डाक-विभाग था या कुछ पत्र-पत्रिकाएँ थीं, जिनसे पत्राचार कर संबंधित सामग्री जुटाई जानी थी। फिर वह देश के विभिन्न भागों, यहाँ तक कि नेपाल में भी कई नामचीन लेखकों-आलोचकों से भी मिले। रेणु एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व थे और उनसे जुड़े असंख्य लोग भारत भर में थे। जो भी हो, इसके प्रकाशन के उपरांत इसका भरपूर स्वागत हुआ। इससे कोई कमाई तो होनी नहीं थी। यह अभीष्ट भी नहीं था। मगर सुयोग्य हाथों में यह ग्रंथ गई और इसको भरपूर सराहना मिली। यही मेरे बाबूजी की संतुष्टि का यथेष्ट कारण था। रेणु के विराट जीवन को जानने-समझने के लिये यह पुस्तक एक प्रामाणिक दस्तावेज के समान समादृत है।"

रेणु-साहित्य के अध्येता और मर्मज्ञ विद्वान भारत यायावर इस बारे में मुझे विस्तृत जानकारी देते बताते थे कि किस प्रकार रजनीकांत जी ने उनके शोधकार्यों में पूरे तन-मन-धन के साथ सहयोग पहुँचाते रहे थे।

वर्तमान का उड़ीसा कभी बिहार के साथ बंगाल के साथ संयुक्त था। जाहिर है, बंगाल के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक ही नहीं, साहित्यिक संस्कार यहाँ भी पल्लवित-पुष्पित हुए थे। ओड़िया के आंचलिक उपन्यासों का रेणु के आंचलिक उपन्यासों के साथ का तुलनात्मक अध्ययन कैलाश पट्टनायक ने किया, जिसका हिंदी अनुवाद अनिता पट्टनायक ने किया है, जो इस संग्रह में शामिल है। अपने इस आलेख में पट्टनायक ने भारतीय भाषाओं के अनेक उपन्यासों की चर्चा करते ओड़िया भाषा के आंचलिक उपन्यासों की भी शृंखला प्रस्तुत की है। जाहिर है, जब इतना समृद्ध साहित्य होगा, तो यहाँ भी विशेष बात दिखेगी ही। और इस आधार पर वह अपना मंतव्य देते हैं- "*अबतक ओड़िया में जिस आंचलिक उपन्यास-समूह का सर्जन हुआ है, आंचलिक भेद से उसमें आकर्षण होने पर भी कथावस्तु की दृष्टि से वे एक सामान्य ही हैं। जमींदार का अत्याचार और तज्जनित हाहाकार लगभग सभी उपन्यासों में देखा जा सकता है।*" किन्तु यह आलेख मूलत: रेणु के आंचलिक उपन्यास 'मैला आँचल' से तुलनात्मक अध्ययन है, वह इस आलेख के द्वारा निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं- "*रेणु जी का 'मैला आँचल' एक आंचलिक उपन्यास है, इस प्रकार के स्पष्टीकरण से ही आंचलिक उपन्यासों की एक नई परंपरा कायम हुई। इसी प्रकार यद्यपि यह सत्य है कि ओड़िशा में आंचलिक उपन्यासों के सृजन के लिए कोई सचेतन प्रयास नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी उन्हीं लक्षणों के साथ कई उपन्यासों की जरूर रचना हुई है।*"

रेणु एक तरफ बंगाल से, तो दूसरी तरफ नेपाल के साथ सक्रियता से जुड़ाव रखे हुए थे। सो स्वाभाविक ही नेपाली भाषा के आंचलिक उपन्यासों की चर्चा हो और इस चर्चा को कृष्ण चंद्र मिश्र अपने आलेख '*रेणु और नेपाली आंचलिक उपन्यास*' के द्वारा अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इसके लिए वह शंकर कोइराला के दो उपन्यास 'खैरेनीघाट' और 'हेलम्बू, मेरो गाँउ' की चर्चा करते हैं। खैरेनीघाट के संबंध में वह जानकारी देते हैं- "*खैरेनीघाट कोथपे के माझियों के बारे में लिखा गया एक आंचलिक उपन्यास है, जो एक विशेष जाति के विचित्र व्यवहारों के साथ, उस छोटे से इलाके, जो कोशी के किनारे, मधेश (मैदानी इलाके) और काठमांडू महानगर के मार्ग पर अवस्थित है, की कथा कहता है। इन सुरम्य पहाड़ी गाँवों की ओर यहाँ याँत्रिक दृष्टि का विस्मय या प्रशंसा भाव नहीं है, बल्कि लेखक उस स्थान से सहज आंतरिकता के कारण वहाँ की मानवीय नागरिकता प्राप्त कर चुका है और पाठकों को भी रमाने में सफल हुआ है।*" इसके आगे वह 'हेलेम्बू, मेरो गाँउ' का परिदृश्य प्रकाशित करते हैं- "*हेलम्बु, काठमांडु से पूर्व विश्व के सर्वोच्च शिखर 'एवरेस्ट के परिसर में एक उत्कृष्ट पर्यटन-स्थल है। इस स्थान की प्राकृतिक रमणीयता और तिब्बती लामाओं तथा शेरपाओं के विचित्र रहन-सहन के आकर्षण से यहाँ देशी-विदेशी पदयात्रियों का सतत आवागमन जारी रहता है। अनेकों नेपाल-प्रेमी पर्यटक-लेखकों ने इसका बखान किया है।*" प्रसंगवश उन्होंने

कुछ और नेपाली आंचलिक उपन्यासों की चर्चा की है और स्पष्ट किया है– "*आंचलिक उपन्यास का क्षेत्र मानव या समाजशास्त्रीय विश्लेषण नहीं, बल्कि जनपद के सारे उल्लास और पीड़ाओं को साहित्यिक रूप देना है।*"

रेणु ने सर्वप्रथम अपने प्रथम उपन्यास 'मैला आँचल' में ही 'आंचलिक उपन्यास' संज्ञा शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया। सौभाग्यवश यह सामयिक था और नवीन उद्घोषणा भी, सो यह पर्याप्त चर्चित हुआ और इसके सार-तत्व खोजे जाने लगे। इस आधार पर शोध-कार्य और आलोचनाएँ प्रस्तुत होने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय भाषाओं में भी आंचलिक उपन्यास खोजे जाने लगे, जो पर्याप्त परिमाण में मिले भी। असमी उपन्यास 'मिरि जियरी' को भी इस कसौटी पर कसने का काम परीक्षित हजारिका ने किया है। रजनीकांत बरदलै द्वारा प्रस्तुत आलोचना 'मिरि जियरी' का वह कुछ यूँ परिचय देते हैं– "*इस उपन्यास में उत्तर लखीमपुर जिले में रहनेवाली मिरि जाति के एक प्रेमि-प्रेमिका को आधार बनाकर चित्रण किया गया है। उत्तर लखीमपुर जिले की सोवनसिरि एक बड़ी नदी है। इसी के किनारे मिरि जाति के लोग रहते हैं। सोवनसिरि नदी इन लोगों के लिए जीवन है। क्योंकि सोवनसिरि के तट पर ये लोग खेती करते हैं, इसका पानी पीते हैं, मछली खाते हैं, नाव चलाते हैं और बहुत खेल खेलते हैं।*" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह उपन्यास 1894 ई. में लिखा गया, जो असमी साहित्य का उषा-काल कहा जा सकता है। और इस आधार पर आलोचक अपना मंतव्य देते हैं– "*रेणु का समाज स्वाधीनोत्तर युग का समाज है और रजनीकांत का समाज प्राक्-स्वाधीनता युग का है। लेकिन, दोनों उपन्यासों में मानवताबोध या मानवीय संवेदनशीलता विद्यमान है। मिरि लोगों के सरल जीवन को रजनीकांत बरदलै ने अत्यंत आंतरिक ढंग से चित्रांकित किया है। इसलिए उपन्यास के पात्र जीवंत हो गये हैं।*"

जैसा कि विदित है रेणु का समय, वह समय था, जब रूस में साम्यवादी लहर चरम पर थी। अपने समाजवादी विचारों और रूझानों की वजह से रूस भारत के निकटतम भी आता जा रहा था। रूस में सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्रों में वृहत् कार्य हुए, जिसके अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय जगत को जोड़ उनका समर्थन भी हासिल करना था। वैसे पूर्व से ही रूसी साहित्य भारत में लोकप्रिय रहा था। और अब तो उसका तेजी से भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी होने लगा था। उसी अनुसार भारतीय भाषाओं का प्रतिष्ठित साहित्य भी रूसी में अनुवाद होने लगा था। कुछ इन्हीं कारणों की वजह से रूस में भी भारत की दिलचस्पी और बढ़ी, तो साहित्य-संस्कृति का आदान-प्रदान तेजी से हुआ। इस कार्य में हिंदी सीखने और भारत भ्रमण करने की प्रवृत्ति भी तेजी से बड़ी भूमिका निभाई। रूस के विद्वान ब्लादिमिर अलेक्सान्द्रोविच चेनिशोव से वीरेन्द्र वर्मा ने एक साक्षात्कार लिया, जो इस ग्रंथ में संलग्न है। चेनिशोव ने ही 'मैला आँचल' का रूसी में अनुवाद 1961 ई. में किया था। और इसके बाद तो उन्होंने रेणु-साहित्य के अनुवादों की शृंखला ही शुरू कर दी। इसी क्रम में उन्होंने कुछ आलेख भी लिखे।

जर्मनी की विद्वान रेडी सदोक का भी भारत-आगमन हुआ, तो उनका साक्षात्कार विजय अग्रवाल रजनीश ने लिया था, जो इस ग्रंथ में संकलित है। एक हिंदी छात्रा या अध्येता के रूप में वह जर्मन में अनूदित हिंदी-साहित्य से परिचित थीं। उन्हें सर्वाधिक पसंद रेणु-साहित्य लगा, तो उनके प्रोफेसर विख्यात् हिंदी विद्वान लोठार लुत्से की प्रेरणा और सलाह से वह भारत में ही रेणु के जिले पूर्णिया में ही रेणु-साहित्य पर शोध करने आ गईं, क्योंकि लुत्से ने उनको यही सलाह दी थी। यहाँ रजनीश ने उनके साक्षात्कार के बहाने आज के पूर्णिया का सटीक चित्रण पेश किया है।

इस प्रकार कुल मिलाकर देखा जाए तो यह ग्रंथ 'रेणु : कर्तृत्व और कृतियाँ' शानदार और जानदार है।

अब आलोचना-ग्रंथ है, तो भारी-भरकम तो होगा ही। बारह प्वाईंट के छपे अक्षर वाले पूरे पाँच सौ पृष्ठ हैं। शुरुआत में थोड़ी मुश्किल हुई कि इतनी भारी-भरकम किताब कौन पढ़े ! मगर जब पढ़ता गया, नये-नये आयाम खुलते गये और दिलचस्पी बढ़ती गई। सामान्य पाठक भी इसे रुचिपूर्वक पढ़ सकते हैं, क्योंकि इसमें वह सबकुछ है, जो एक जिज्ञासु पाठक पढ़ना चाहता है। शोधार्थियों के लिए तो खैर यह जरूरी पुस्तक है ही। रजनीकांत सिन्हा का एक स्वप्न है- यह किताब, जिसे उन्होंने पूरे मन से पूर्ण ही नहीं करवाया, टेंट से पैसा खर्च कर प्रकाशित भी किया। बिहारी के अनुसार- 'गुन ना हिरानो, गुनगाहक हिरानो है।' सो गुणी रेणु को जब पारखी रजनीकांत मिल गये। उन्होंने एक वृहत्-कार्य संपन्न कर अपने सपने को साकार करने के साथ हिंदी साहित्य को एक बेहतरीन ग्रंथ की सौगात सौंप दी।

पुस्तक का नाम - ***रेणु : कर्तृत्व और कृतियाँ***
संपादक - डॉ. सियाराम तिवारी, डा० रामदेव प्रसाद
संयोजक - रजनीकांत सिन्हा
प्रकाशक - नवनीता प्रकाशन, दरियापुर, पटना-800 004
प्रकाशन वर्ष : 1983

❑❑❑

आलेख

स्त्री-संघर्ष का लोक निर्मित स्वरूप

❍ संगीता मौर्य

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में हुए स्त्री-आंदोलन के बहुत पहले भी नून-तेल की चिंता के साथ ही अपने समय-समाज की तमाम असमानताओं, विरोधों, पाबंदियों को झेलते हुए बहुत सी स्त्रियों, भक्त कवयित्रियों, थेरियों आदि ने अपनी मुक्ति की राह निकाली। इन स्त्रियों में थेरियों की अपेक्षा भक्तिकालीन कवयित्रियों पर खूब लिखा-पढ़ा गया है। जबकि भारत में स्त्री जीवन की प्रामाणिक प्रथम सामूहिक अभिव्यक्ति थेरियाँ ही हैं। बौद्ध धर्म के 'त्रिपिटक' के 'सुत्तपिटक' के अंतर्गत पाँच निकाय हैं। उसमें से एक 'खुद्दक निकाय' के नवें भाग में 73 बौद्ध भिक्षुणियों की जीवन गाथाओं का संकलन है। ये बौद्ध भिक्षुणी ही 'थेरी' कहलायीं। इन थेरियों में अमीर-गरीब, निम्न-उच्च, स्वामी और दासी के साथ ही समाज से सर्वथा बहिष्कृत, वेश्याओं के लिए भी जगह थी। विमल कीर्ति की थेरी गाथा पढ़ते हुये हम देखते हैं कि भिक्खुड़ी सुमंगला अपने जीवन के कष्टों को कैसे उजागर करती हैं! वह कहती हैं कि-

अहो! मैं मुक्त नारी! मेरी मुक्ति कितनी धन्य है!
पहले मैं मूसल से लेकर धान कूटा करती थी,
आज उससे मुक्त हुई। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन!
जिनके बीच में मैं मैली-कुचैली बैठती थी,
और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी तुच्छ समझता था,
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।
अब उस जीवन की आसक्तियों और मलों को
मैंने छोड़ दिया।
....
अहो! अब मैं कितनी सुखी हूँ!...[1]

इसी तरह धान कूट कर जीवन-यापन करने, अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने की बात अन्य थेरियाँ भी करती हैं। इस बात को हम जानते हैं कि एक सामान्य स्त्री घर-गृहस्थी के बोझ तले दबी केवल एक हाड़-मांस का लोंदा नहीं है बल्कि घर से बाहर निकलने तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने में भी सक्षम है। वह अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सोचने-समझने की भरपूर शक्ति रखती है। फिर भी देखा जाय तो हमारे समाज में स्त्रियों की हकमारी का इतिहास अनंत काल से जारी है। वह आधुनिक काल में अपने अधिकार एवं कर्तव्यबोध को लेकर आधुनिक शिक्षा एवं स्त्री मुक्ति

आंदोलनों के माध्यम से अधिक सचेत होती हैं। इससे पूर्व की स्थिति पर यदि हम एक दृष्टि डालें तो पाते हैं कि लोक प्रथाओं से लेकर धार्मिक मान्यताओं तक में स्त्रियों ने अपने दु:ख और उससे मुक्ति के लिए अपनी सशक्त अभिव्यक्ति को एक माध्यम बनाया है।

थेरीगाथा के संबंध में डॉ. विमल कीर्ति लिखते हैं कि " *थेरीगाथा नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रन्थ है।*"[2] यदि हम स्त्रियों की स्वतंत्रता को ब्राह्मण और बौद्ध धर्म की दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों को संन्यास लेने और विमुक्ति का अधिकार नहीं था। स्त्रियों को वर्णभेद से अलग तथा भेदपरक संस्कारों से इतर ज्ञान और विमुक्ति की चाह ने उन्हें बुद्ध की शरण में जाने को प्रेरित किया। इसलिए सब दु:खों से मुक्ति के लिए वे बुद्ध की शरण में जाना चाहती हैं। बुद्ध की इन्हीं समानतागत विचारों को आत्मसात करते हुए लोक की स्त्रियाँ सारे सांसारिक कष्टों को झेलते हुए अपनी मुक्ति की राह इसी लोक में ढूँढती हैं। वह संन्यास ग्रहण नहीं करतीं बल्कि उसकी अपेक्षा अपने कर्म को अधिक महत्व देती हैं। मात्र संन्यास ग्रहण कर लेना ही लोक कल्याण का साधन नहीं है बल्कि इसी लोक में रहते हुए, लोक में व्याप्त समस्यायों के निराकरण हेतु सतत प्रयास करना संन्यास का बेहतर विकल्प हो सकता है। इसको अपने सांसारिक सन्दर्भों में देखें तो आज भी हमारे दैनिक जीवन में समाज की लोक मान्यताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं।

मुझे याद है जब मैं बहुत छोटी थी। उस समय जब बेटियाँ अपने ससुराल से मायके जाती थीं। वह तब भी रोती थीं। मेरी बुआ जब एक बार अपने मायके आयीं तब पिता जी का पैर पकड़ कर खूब जोर-जोर से रो रही थीं। तब की स्त्रियाँ आजकल की लड़कियों की तरह नहीं रोती थीं बल्कि अपने गीतों में अपने पूरे दु:ख की गगरी को उड़ेल दिया करती थीं। मेरी बुआ रोते-रोते कह रही थीं-

> *"ऊँची-ऊँची महलिया देखि बियहला भैया बिरनू/घरवां क मरमिया नाही जनला भईया बिरनू।*
> *नौ-मन कुटी ला, नौ मन पिसी ला, नौ मन सिझई ला, रसोईयाँ भईया बिरनू।*
> *पिछली टिकरिया हमारो भोजनिया भईया बिरनू। ओहू में कुकुरा-बिलरिया भईया बिरनू।"*[3]

भले ही उस समय इस गीत को समझने की हमारी उम्र नहीं थी लेकिन हम जानते थे कि बुआ को ससुराल वाले बहुत मारते-पीटते और सताते हैं इसीलिए वह रो रही हैं। बुआ को रोते देख हम सब भी रो देते, यहाँ तक कि पिता जी भी। फिर याद आने लगा कि हमारी दादी जिनको हमलोग आजी कहा करते थे। उनको भी दादा जी बात-बात पर डाँट दिया करते, उनके मन-मुताबिक काम न होने पर हाथ उठा देते। घर-बाहर ऐसी स्थिति को देखते हुए मन दु:खी हो जाता। धीरे-धीरे यह सब स्त्रियों की नियति मान ली गयी।

बचपन की सारी बातें आज जेहन में बार-बार आने लगीं! माँ से पूछने पर वह बताती हैं कि रात में दो-तीन बजे से ही ढेकी (पैर से धान कूटने के लिए लकड़ी का बनाया हुआ) चलने लगती थी! ओखली से धान कूटते-कूटते हाथ में छाले पड़ जाते थे। काम करते करते कमर टूट जाती थी। मुझे अपना बचपन याद आता है जब मैं सोचती थी कि कुछ समय के लिए माँ मेरे पास बैठ जाय लेकिन घर गृहस्थी के काम के बोझ तले दबी माँ के पास समय नहीं होता। गीतांजलि श्री का उपन्यास 'माई' पढ़ते हुए बार-बार अपने गाँव-घर की कितनी माएँ उठ खड़ी होती हैं। जहाँ काम वाला हिस्सा उन सबके जिम्मे और नाम किसी और के हिस्से। गीतांजलि श्री लिखती हैं- " *दादा को घर में क्या हो रहा है, उसमें न दिलचस्पी थी न उनका ज्ञान, ..पर सरगना वही थे और जब चाहे दिलचस्पी ले लेते, न बोली बात भी सुन लेते क्या मजाल कि उनकी मंशा के खिलाफ कुछ हो। या उनकी चाह टाली जाय। ...दादा किसी सोच में डूबे भूल से कह जाएँ,*

'आज मटर का निमोना और चावल खाएँगे' – तो बना-बनाया खाना एक तरफ सरका के माई दोबारा जुट जाती।"[4] आगे लिखती हैं *"उन्हें औरतें नापसंद थीं। औरतों का घर के सामने की तरफ दिख जाना उन्हें खलता। मुझे याद है कि फाटक से घर तक बजरी की सड़क के किनारे,....फाटक खुलने की आवाज हुयी, मेहमान का जायजा लेने के पहले ही दादा फौरन बोले, 'सुनैना अन्दर जाओ, कुछ चाय-नाश्ता भेजने को कहो।' मैंने अपने में औरत उस पल देख ली।"*[5] इन सारी बातों को याद करती हूँ तो लगता है भारत के इन गाँवों में 'माई' की कितनी सीरीज बन सकती है! सिमोन ऐसे ही थोड़े कहती हैं *"स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।"* आन्तरीकरण की इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहा जाता है जिसमें व्यक्तियों को व्यवस्था से कैसे सामंजस्य बिठाया जाय, सिखाया जाता है। स्त्रियों के लिए इसे एक अनिवार्य शर्त के रूप में देखा जाता है। इस तरह स्त्रियों की एक परिधि का निर्धारण कर दिया जाता है। जिससे उनके अन्दर के सुख-दुःख को उनकी नियति मान लिया जाता है। भारत के इन गाँवों में स्त्री के जीवन से संबंधित उनके दुःख-दर्द से संबंधित कितने गीत लोक मानस में व्याप्त हैं। एक लड़की जब अपने मायके में रहती है तबकी उसकी स्थिति और जब शादी हो जाती है तब उसकी परिस्थितियाँ समय के अनुसार बदल जाती है–

"कथी के चटईया पापा हो बिछौले बाड़ा, हमरो के बयिठौवले बाड़ा ना।
कथी के करेजवा पापा हो बनवले बाड़ा, हमरो के बिसरवले बाड़ा ना ।।
कुश के चटईया बेटी हो बिछौले बाड़ी, तोहरा के बयिठौले बाड़ी हो ।
काठ के करेजवा बेटी हो बनवले बाड़ी, ये ही से बिसरवले बाड़ी हो।।"[6]

इन स्त्रियों ने अपनी आवाज और अपने जीवन के अनुभव को लोक गीतों में पिरो कर डाल दी है। अपने जीवन की समस्याओं को सामने लाकर, अपने दुःख को साझा कर उस दुःख से उबरने की कोशिश करती हैं।

"आँख के पुतरिया पापा हो तोहरे रहली, धिया हम दुलारी रहली ना।
कैसे बिसरौला पापा हो दुलारी बिया, हिय के समझवला कैसे ना।।
बगिया के फुलवा बेटी हो तोहीं रहलू, तोहिं घर के कोयलिया रहलू हो।
परत सिनुरवा बेटी हो पराया भईलू, तूं तो पराया रहलू हो।।
केतनो मनाईं पापा हो, माने नाहीं लोरवा नयनवा ढारे हो।
छुटल जाता सखिया सहेलिया हमरो, अब सब बेगाना लागे हो।।"[8]

यह गीत पिता-पुत्री के संबंधों की पहचान लोक के माध्यम से करती हुई यह बताने की कोशिश करती है कि एक स्त्री जब तक उसकी शादी नहीं हुई होती तब तक तो पिता की आँखों की पुतरी बनी रहती है लेकिन शादी के बाद ही पराया हो जाती है। वह स्त्री इस बदले हुए व्यवहार के लिए अपने मन को मनाने की बार-बार कोशिश करती है। लेकिन जो घर अभी तक अपना था उसके पराया होने और सखी-सहेलियों की याद आने से आँखों से लगातार आँसू निकल रहे हैं। इस तरह से देखा जाय तो तमाम ऐसे गीत हैं जिनके माध्यम से स्त्रियाँ अपने मन की अभिव्यक्ति को प्रकट करती हैं। यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ये सारे गीत इन स्त्रियों के जीवन के अभिन्न अंग हैं, जिसको इनसे अलगाया नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में सुजाता लिखती हैं कि *"स्त्रियों के लिए भी जो अभिव्यक्तियाँ, जो बातें यों कहना मुश्किल होती हैं वे अक्सर लोकगीतों में व्यक्त हो जाती हैं। जिसे सिमोन स्त्रियों की सब्जेक्टिविटी कहती हैं वह इन गीतों में सामने आती है। ये वे तमाम भोगे हुए अनुभव (lived experiences) हैं जो*

स्त्री को मनुष्य के रूप में स्थापित करते हैं। जो दुनिया को देखने के 'पुरुष कोण' को बदलते हैं और स्त्री की दुनिया में लिए चलते हैं। वे तमाम अनुभव जिनसे स्त्री का होना और 'बनाया जाना' समझ आता है, वे दर्ज होते हैं और स्त्रियाँ खुद ही अपनी 'अदरिंग' की प्रक्रिया को उलटती हैं। उसका भी मन है, उसके भी आँसू हैं, उसके भी कष्ट हैं, वह भी मुँह में जबान रखती है। भले ही उस पर पहरे हैं लेकिन वह अपने रास्ते निकालती है और भाषा की सांकेतिकता का बखूबी इस्तेमाल करती है। लोकगीतों, लोक-गाथाओं और परीकथाओं का अध्ययन स्त्रीवाद और भाषा-विज्ञानियों ने खूब किया है।"[9]

मुझे याद है जब हमारे यहाँ धान की रोपनी होती थी। तब ढेर सारी औरतें बाहर (पलामू - झारखण्ड) से आती थीं। खेत में जातीं तब खूब गीत गातीं। उन गीतों को सुनकर मन लहराने लगता। लेकिन उनके अंतर्मन की गहराइयों में झाँकें तो लगता है कि उनमें उनके जीवन का दुःख और लाचारी अधिक व्याप्त थी। इन गीतों के माध्यम से वे अपने को उत्साहित करतीं और दिलासा दिलातीं ताकि उनका ध्यान शारीरिक श्रम की थकान से हटे। कार्ल मार्क्स के शब्दों को उधार लें तो यह कह सकते हैं कि ये गीत एक अफीम की तरफ कार्य करते हैं जिनको गाकर उन्हें अपनी थकान का एहसास कम होता। लगभग दस-पंद्रह दिन की रोपनी होती। हम बहनें चाची के साथ मिलकर इन सबके लिए रोज नाश्ता बनाते, (नाश्ते में रोटी बनती कभी चने या मटर की घुघुनी, या गेहूँ उबाल कर नमक मिलाकर दिया जाता) खाना बनाते, हम रोज दिन गिनते रहते कब रोपनी समाप्त हो और ये लोग यहाँ से जाएँ, हम इतना काम करके ऊब जाते। लेकिन उनके लिए खाना-नाश्ता बनाने का कार्य तो हमारे लिए कुछ ही दिन का था, लेकिन अपने जीविकोपार्जन हेतु उन्हें प्रतिदिन ऐसे कार्य करने पड़ते हैं। हम याद करें कि रोपनी के समय की धूप तो मिर्ची से भी तेज होती है। उसमें भी झुककर रोपनी करना, कितना कष्टकारी है! इस दर्द को वह धान रोपने वाली रोपनी ही बता सकती है -

"हाली-हाली रोप सखी परती में धान हो/ संगे-संगे गाव गीतिया लागी नाहीं घाम हो।
देखला पर नीमन लगे धनवाँ के जाय(जौ) हो/ गुबू-गुबू रोपत रयिहा/ लागी नाहीं घाम हो।।"[10]

एक रोपनी जो अभी नई-नई इस काम करना शुरू करती है। वह कहती है,

"बानी सुकुमार हमार कोमल बदनियाँ/ पिया रोपनिया हमसे नाहीं होई।
घर में बईठ के तूं जे बनबू कनियाँ/ भोजनियाँ ये धनियाँ कहवाँ से आई।।"[11]

सच में, दो-जून की रोटी की चिंता न हो तो इतना कठिन काम भला कौन करना चाहेगा।

"हमरा से सईयाँ धान न रोपाई/ दुखे कमर मोरा दुखे कलाई/ धरता जोख हमार देहियाँ दबा के।।"[12]

सच में धान की रोपनी का काम कितना कठिन होता है यह समझाया नहीं जा सकता। झुकने के लिए भोजपुरी में एक शब्द 'निहुरना' है। सही शब्द का इस्तेमाल करें तो दिन भर निहुरने से कमर दर्द से फटने लगती है। 'जोंक' यह अंग्रेजी वाला जोक्स नहीं है बल्कि यह खून चूसने वाला पानी का एक जीव है जो कीचड़ में ही रहता है। जिसके काटने से दर्द होता है। इन सबकी चिंता किये बिना रोपनहारी अपने काम में लगी रहती हैं।

आज जब मनोरंजन के इतने साधन उपलब्ध हैं तब भी पता नहीं क्यों उन गीतों की ओर मन बार-बार जाता है। उन रोपनियों के गीत मन में बार-बार कौंधने लगते हैं। हमें खाना बनाने में भले ही खराब लगता लेकिन उनके रहने से पूरा घर गुलजार रहता। वे दिन-भर धान रोपतीं रात में कोई कहानी कहतीं, कोई गीत गातीं, उनमें से तो कई झूमर नृत्य भी करतीं। आज जब कोई करने वाला नहीं बचा, सारे खेत बटाई पर

दिए जाने लगे। अब जब भी रोपनी का समय आता है। मन एक बार उन रोपनिहारियों को जरूर याद करता है।

कुछ समय पहले तक गाँव में खेतों में पानी भरने के लिए मोट (चमड़े का बना हुआ एक बड़ा सा थैला, जिसमें ज्यादा पानी आ सके) हुआ करता था। दो बैलों के सहारे कुँए से पानी इसी मोट के सहारे बाहर निकाला जाता था। दिन-दिन भर मोट चलते ही रहते थे। माँ कुछ ऐसी बातें बताती हैं कि विस्मय और आश्चर्य से मन भर जाता है। माँ उन दिनों को याद करते हुए बताती है कि रात में तीन बजे ही मोट चलने लगते। मेरी दोनों बड़ी बहनें तीन बजे रात से ही मोट हाँकने लगतीं, दो क्यारी खेत थे जो रोज सींचे जाते। एक तरफ का सींचा जाता तब दूसरी तरफ से सूखने लगता। माँ कहतीं हम कितने दिन दिन भर उपासे रह जाते। कभी रस पीकर, कभी साँवाँ-कोदो, तो कभी ककड़ी खाकर काम चलाना पड़ता। दोनों बहनें फूट (ककड़ी की ही एक प्रजाति) खाकर दिनभर मोट हाँकती रहतीं। गीत गाती रहतीं। जिससे उनका काम में मन लगा रहे। काम का बोझ कुछ हल्का हो जाय। यह सब बताते-बताते माँ की आँखों में आँसू आ जाते। माँ कहतीं ये सब क्यों पूछती हो, बहुत दुःख के दिन काटे हैं हमने! ये सब जानकर क्या करोगी! सच में देखा जाय तो ये सब बातें जानकर अब हम बहुत कुछ बदल तो नहीं सकते लेकिन हम सब यह अनुमान लगा सकते हैं कि लोक कैसे निर्मित होता है। यह लोक भूख से, प्यास से, दुःख-दर्द से और तमाम उन चीजों से मिलकर निर्मित होता जिसमें फूल कम काँटे अधिक होते हैं,

"धनवा सूखइन ए बेटी, धान के कियरिया हो/पनवा बरैया के दुकान।
गंगा सुखैनी ए बेटी, जमुना सुखैनी हो सुखि गइली नदिया के सेवार।।[13]
अमवा की डारी सुगनवा बोले हो/महुआ के डारी कोयलरिया हो।
मोरी बहिनी रानी की महलिया कागा बोले हो।
त बोलिया बड़ी सुहावन लागे हो।।"[14]

पानी भरते हुए जब स्त्रियाँ थक जातीं तब यह गीत कि धान के खेत सूख गये और धान भी सूख गया क्योंकि गंगा, यमुना सभी नदियाँ सूख गईं और नदियों के सूखने से नदी के सारे किनारे भी सूख गये। हम देख सकते हैं तब की यांत्रिक दुनिया में व्यक्ति एक आयामी होता था। वह दिनभर एक ही काम में लगा रहता और अपनी अभिव्यक्तियों को गा-गुनगुना कर प्रकट करता। इस तरह से देखा जाय तो स्त्रियाँ अपने मन की अभिव्यक्ति इन गीतों के माध्यम से करती थीं। इसी तरह जतसार के गीत भी लोकप्रिय हैं-

"जंतवा पीसत सासू देहली हो सरपवा, देहली हो सरपवा
तोरे लेखे बहुरी हो असली रे सरपवा, बहुरि मोरे लेखे लपसी मछरिया हो ना"

इस गीत के माध्यम से सास-बहू के संबंधों की व्याख्या होती है। जाँत पीसते हुए सास बहू को श्राप देती है जिसकी उलाहना बहू सास को देती है तब सास कहती है जो तुमको श्राप लग रहा है वह मेरे लिए लपसी मछली का काम कर रहा है।

"सासू जंतवा गड़ावे गजवाओबर हो राम,
सासू महले में कटतू झरोखवा त झुरी-झुरी बयारि आवत हो,
रहिया के चलत बटोहिया त हो, भईया हमरो सनेसा लीहले जईहा न हो,
हमरऽ सनेसा हमरे ही रे अंगनवा कईहा, भइया तोर धन पीसतइ पसीजलि हो राम"[15]

रोपनी के गीत, पानी भरने के गीत आदि गीत गाकर अपने श्रम को कम करने की कोशिश भी करती

थीं। आज भी देखा जाता है कि माएँ अपने बच्चों को सुलाते समय लोरियाँ गाया करती हैं। सुमन राजे लिखती हैं, "*यह विचित्र किन्तु सत्य है कि लोक नायक तो बहुत हैं, जिनमें से कई लोक महाकाव्यों के नायक भी हैं, पर स्त्री नायिकाएँ सिर्फ स्त्री के कंठ में हैं।*"[16] आगे वे लिखती हैं, "*लोक जीवन की ये नायिकाएँ लोक के भीतर से ही उठती हैं और लोक द्वारा निर्धारित मूल्यों पर अपना उत्सर्ग करती हैं। ये गीत-कथाएँ स्त्रियों की ही रचनाएँ हैं, इसका प्रमाण यह है कि ये केवल स्त्रियों द्वारा ही गाई जाती हैं।*"[17]

लोक ज्ञान पद्धति का यह दृष्टिकोण 'विज्ञान' और 'व्यावहारिक बुद्धि' में अंतर को मिटाना है जिसमें व्यक्ति लोक जीवन में अपनी सारी समस्यायों का निराकरण इसी पद्धति के माध्यम से तलाशता है। उदाहरण के तौर पर एक निरक्षर वृद्ध स्त्री दूध को गर्म इसलिए कर देती है कि खराब न हो। उसे यह नहीं मालूम कि उसमें बैक्टीरिया की संख्या अधिक होने से दूध खराब हो सकता है। उसी तरह जब नागपंचमी के बाद हम बच्चे मिट्टी का एक लोदा लेते (वह नमी युक्त बायो खाद वाली मिट्टी होती थी) उसे खूब जतन करके गोल बनाते फिर उस गोल मिट्टी के नीचे का आकार चपटा कर देते। उस मिट्टी में जरई बो देते, रोज-रोज उस जरई में थोडा-थोड़ा पानी डालते रहते एक दिन वह जरई एक बित्ते का हो जाता तब कजरी के दिन हम लड़कियाँ उस जरई को मिट्टी के साथ गीत गाते तालाब या पोखरे की ओर चल देते। चारों तरफ से कई गाँव की लड़कियाँ उस पोखरे में जातीं। उस समय जायसी के 'पद्मावत' की वह पंक्ति बार-बार याद आती है जिसमें वे कहते हैं, "*पद्मावती सब सखी बुलाई, जनु फुलवारी सबै चली आई।*" हम सब लड़कियाँ मिट्टी की जरई के साथ एक साथ पोखरे में डूबते फिर मिट्टी नीचे छोड़ देते और जरई लेकर ऊपर आ जाते। उस जरई को हम अपने घर और पड़ोस में लोगों के कान पर रखते। यह एक रस्म हुआ करती थी इसके बदले लोग हमें पैसा देते। यह हमारे लिए एक सांस्कृतिक महोत्सव हुआ करता था। धीरे-धीरे पोखरा-तालाब भी जाते रहे और यह प्रथा भी! आज जब इतने वर्षों बाद पीछे मुड़कर देखती हूँ तब लगता है कि इन सब त्योहारों का क्या औचित्य था। इसको कृषि वैज्ञानिक लोग ठीक से समझेंगे लेकिन एक किसान परिवार में जन्म लेने की वजह से आज जो मैं महसूस कर पाती हूँ वह यह है कि उस समय बीज के अनुकूलन हेतु तापक्रम और नमी की टेस्टिंग भी इसी माध्यम से हो जाती थी। गौर करें तो कजरी के समय भी रोपनी का समय हुआ करती है। कजरी के समय लड़कियों के गीतों की अनुगूँज सुनाई पड़ती थी,

> "*धीरे-धीरे गिरे यमुना जी क पानी, नहर धईले जाला ये हरी।*
> *ओही नहरिया पर ससुर जी नोकरवा, धीरे-धीरे ढीलय नहर में पानी।*
> *नहर धईले जाला ये हरी*"[18]

बुवाई आने तक यह बीज घर की प्रयोगशाला में पास हो जाया करता था। हम बच्चों के माध्यम से बड़ों के कान तक पहुँच कर उन तक उन्नत बीज की बानगी पहुँच जाती थी। साथ ही जिस गोबर खाद का हम बच्चे इस्तेमाल करते थे उतना ही खाद खेती के लिए पर्याप्त थी (कहने का तात्पर्य उस अनुपात से है) जो बाद में हम रासायनिक खाद की तरफ मुड़ते हैं और सेहत के विनाश का रास्ता भी बनाते चलते हैं। इन गीतों और परम्पराओं के माध्यम से स्त्रियों ने लोक की उपस्थिति को जीवित किया हुआ है। हम जानते हैं कि स्त्रियाँ उत्सवधर्मी होती हैं। ये छोटे-छोटे तीज-त्यौहार उनके लिए खुशियाँ लेकर आता है। अपने गीत-गजल के माध्यम से ये स्त्रियाँ उन त्योहारों में रंग भरती हैं। इतना ही नहीं सदियों से ये गीत ही इन स्त्रियों की अभिव्यक्ति का माध्यम भी रहा है।

संदर्भ :

1. थेरीगाथा, डॉ. विमलकीर्ति, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली : 21 (भूमिका)
2. वही : 4
3. मीरा देवी (दीदी), उम्र : 45; ग्राम : बरईल, सोनभद्र
4. माई, गीतांजलि श्री, राजकमल पेपरबैक्स : 34
5. वही : 34-35
6. स्त्री : उपेक्षिता, सिमोन द बोउवार, प्रस्तुति : डॉ. प्रभा खेतान
7. बच्ची देवी (दीदी), उम्र : 45; गाँव : सरयां, देवरिया
8. वही
9. आलोचना का स्त्री पक्ष (पद्धति, परम्परा और पाठ) - सुजाता, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली : 198
10. श्वेता सोनी (छात्रा), राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर
11. वही
12. वही
13. श्वेता यादव, छात्रा, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर
14. आरती, छात्रा, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर
15. वही
16. इतिहास में स्त्री, सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ : 140
17. वही : 141
18. सरिता (बहन), उम्र : 40 वर्ष; गाँव : तिनताली, सोनभद्र

❑❑❑

प्रेमचंद की कहानियों में खेलों का महत्त्व

❍ कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

हिंदी साहित्य के मूर्धन्य कथाकार-रचनाकार मुंशी प्रेमचंद की लगभग तीन सौ से कुछ अधिक प्रकाशित कहानियों की बारीकी से जाँच-पड़ताल करें तो हमें पता चलता है कि भारतीय जनमानस में खेलों के महत्व को समझते हुए उन्होंने इनका प्रयोग अपनी कहानियों में प्रमुखता के साथ किया है। प्रेमचंद की खेलों पर आधारित प्रमुख कहानियाँ इस प्रकार हैं-'मनावन', 'धोके की टट्टी', 'धर्मसंकट', 'परीक्षा', 'दीक्षा', 'विनोद', 'डिक्री के रुपए', 'भाड़े का टट्टू', 'बड़े बाबू', 'मंत्र', 'अलग्योझा', 'होली का उपहार', 'दूध का दाम', 'स्वाँग' आदि। यह वह कहानियाँ है, जिनमें प्रेमचंद किसी-न-किसी रूप में खेलों का वर्णन अवश्य करते हैं। कहीं-कहीं उन्होंने इन खेलों का विस्तार दिया है, कहीं केवल जिक्र कर छोड़ दिया है। प्रेमचंद ने इन कहानियों में जिन-जिन खेलों का वर्णन किया है वह है- 'हॉकी', 'फुटबॉल', 'टेनिस', 'गुल्ली-डंडा', 'गोल्फ', 'दंगल', बच्चों का खेल 'सवार-सवार', 'शतरंज', 'कनकौआ' (पतंग), 'क्रिकेट मैच' आदि। इसके अलावा तीन कहानियों के शीर्षक खेलों पर आधारित हैं, जैसे-'शतरंज के खिलाड़ी', 'गुल्ली-डंडा' एवं 'क्रिकेट मैच'। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी ऐतिहासिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, जिसके केन्द्र में शतरंज के खेल को मुख्य तौर पर दर्शित किया गया है। 'गुल्ली-डंडा' एवं 'क्रिकेट मैच' कहानी विशुद्ध रूप से खेलों पर ही केन्द्रित है। जिसमें ग्रामीण खेल 'गुल्ली-डंडा' एवं आधुनिक खेल 'क्रिकेट मैच' को बड़े ही रोचक तरीके से वर्णित किया गया है। 'बड़े भाई साहब' कहानी में प्रेमचंद जीवन में शिक्षा के साथ-साथ खेलकूद की महत्ता को भी महत्त्वपूर्ण मानते है। इस लिहाज से यह कहानी महत्वपूर्ण बन जाती है। इसके अलावा बालमन पर केन्द्रित 'चोरी', 'कजाकी', 'खेल', 'ईदगाह' आदि कहानियों में बालमन के माध्यम से खेलों का वर्णन किया है। एक कहानी ऐसी भी है, जिसमें खेलों का संदर्भ है और लेखक उनसे भी कुछ कहना चाहता है। कहानी है 'सैलानी बंदर' (फरवरी, 1924) जो पशु और मनुष्य के संबंधों की हृदयस्पर्शी कहानी है।

प्रेमचंद की कहानी 'खेल' (अप्रैल, 1931) गाँव के बालकों के खेल-खेल में किए गए एक नाटक की कहानी है, जो खेल होने पर भी बाल जीवन का वास्तविक चित्र बन जाता है। जीवन कहानी बनता है और कहानी जीवन और यह खेल-खेल में होता है। 'ईदगाह' (अगस्त, 1933) कहानी यद्यपि बालक हामिद की अपनी दादी अमीना के प्रति घनीभूत संवेदना की कहानी है, लेकिन उसमें ईदगाह के आसपास खिलौनों की दुकानों की चर्चा की गई है। लेखक ने इस प्रकरण को ज्यादा विस्तारित नहीं किया है।

प्रस्तुत आलेख में प्रेमचंद की कहानियों में खेलों के महत्त्व को दर्शित करती कहानियों की इस यात्रा

में से एक परिचय देने का प्रयास किया गया है। आलेख में अधिकतर कहानियों के अवतरणों को ही आधार बनाया गया है, पाठकों की सुविधा हेतु इन अवतरणों का संदर्भ सूत्र आलेख के अंत में दिया गया है। कहीं-कहीं यह अवतरण बहुत ही सूक्ष्म है, कहीं-कहीं विस्तार पा गए है। पाठकों की सुविधानुसार इन्हें देने का प्रयास किया गया है, ताकि पाठकों को कहानी का कथ्य समझने में आसानी हो।

मनावन (जमाना, उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई 1912 में प्रकाशित)-कहानी में प्रेमचंद हॉकी खेल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "बंबई और यू.पी. के डेलीगैटों में एक हॉकी मैच की ठहर गई........खैर, पाँच बजे खेल शुरू हुआ। दोनों तरफ के खिलाड़ी बहुत तेज थे, जिन्होंने हॉकी खेलने के सिवा जिंदगी में और कोई काम ही नहीं किया। खेल बड़े जोश और सरगर्मी से होने लगा। कई हजार तमाशाई जमा थे। उनकी तालियाँ और बढ़ावे खिलाड़ियों पर मारू बाजे का काम कर रहे थे और गेंद किसी अभागे की किस्मत की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता था। दयाशंकर के हाथों की तेजी और सफाई, उनकी पकड़ और बेऐब निशानेबाजी पर लोग हैरान थे, यहाँ तक कि जब वक्त खत्म होने में सिर्फ एक मिनट बाकी रह गया और दोनों तरफ के लोग हिम्मतें हार चुके थे तो दयाशंकर ने गेंद लिया और बिजली की तरह विरोधी पक्ष के गोल पर पहुँच गए। एक पटाखे की आवाज हुई, चारों तरफ से गोल का नारा बुलंद हुआ। इलाहाबाद की जीत हुई और इस जीत का सेहरा दयाशंकर के सिर था।"[1]

'धोके की टट्टी' (अदीब, उर्दू मासिक पत्रिका, नवंबर 1912 में प्रकाशित) कहानी का नायक सुरेन्द्र "*क्रिकेट का जबरदस्त खिलाड़ी, फुटबॉल में मुशाक (सिद्धहस्त), शक्लो-सूरत का जेंटलमैन फराखदिल (दिल खोलकर खर्च करने वाला, बुलंद-हौंसला), ऐसा तालिबे-इल्म (विद्यार्थी) जहाँ जाए, उसे दोस्तों की कमी न रहेगी.... सुबह को बागों की सैर, शाम को क्रिकेट और फुटबॉल।*"[2]

'धर्मसंकट' (जमाना, उर्दू मासिक पत्रिका, मई 1913 में प्रकाशित) कहानी के "पंडित कैलाशनाथ लखनऊ के प्रतिष्ठित बैरिस्टरों में से थे.......हाँ, क्रिकेट का शौक अब तक ज्यों-का-त्यों बना था। वह कैसर क्लब के संस्थापक और क्रिकेट के प्रतिष्ठित खिलाड़ी थे। यदि मि. कैलाश को क्रिकेट की धुन थी, तो उनकी बहन कामिनी को टेनिस का शौक था।"[3]

'शंखनाद' (हमदर्द, उर्दू पत्र, जून 1913 में प्रकाशित) कहानी का गुमान "*बड़ा रँगीला जवान था। खँजड़ी बजा-बजाकर जब वह मीठे स्वर से खयाल गाता, तो रंग जम जाता। उसे दंगल का ऐसा शौक था कि कोसों तक धावा मारता पर घरवाले कुछ ऐसे शुष्क थे कि उसके इन व्यसनों से तनिक भी सहानुभूति न रखते थे।*"[4]

'परीक्षा' (प्रताप, हिंदी साप्ताहिक पत्र, विजयदशमी अंक, अक्टूबर, 1914 के अंक में हिंदी में प्रकाशित प्रेमचंद की पहली कहानी) कहानी में रियासत देवगढ़ के लिए दीवान पद के लिए आए उम्मीदवारों में से "एक दिन नए फैशनवालों को सूझी की आपस में 'हॉकी' का खेल हो जाए। यह प्रस्ताव हॉकी के मँजे हुए खिलाड़ियों ने पेश किया.... चलिए तय हो गया, कोट बन गए, खेल शुरू हो गया और गेंद किसी दफ्तर के अप्रेंटिस की तरह ठोंकरें खाने लगी। रियासत देवगढ़ में यह खेल बिलकुल निराली बात थी। पढ़े-लिखे भले मानस लोग शतरंज और ताश जैसे गंभीर खेल खेलते थे। दौड़-कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे। खेल बड़े उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को लेकर तेजी से बढ़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई लहर बढ़ती चली आती है। लेकिन दूसरी ओर के खिलाड़ी इस बढ़ती लहर को इस तरह रोक लेते थे मानो लोहे की दीवार है। संध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने में शल हो गए। खून की गर्मी आँख और चेहरे से झलक रही थी। हाँफते-हाँफते बेदम हो गए, लेकिन हार-जीत

का निर्णय न हो सका।”[5]

‘दीक्षा’ (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, सितम्बर, 1924 में प्रकाशित) कहानी का कथावाचक अपने बचपन के समय को याद करते हुए कहता है कि “*जब मैं स्कूल में पढ़ता था, गेंद खेलता था और अध्यापक महोदयों की घुडकियाँ, खाता था, अर्थात् मेरी किशोरावस्था थी।*” परन्तु भविष्य में यह सुख जाते रहते हैं, तब वह कहता है कि “*यह भी कोई जिंदगी है? कोई सुख नहीं, मनोरंजन का कोई सामान नहीं। दिन भर काम करने के बाद टेनिस क्या खाक खेलूँगा?*”[6] शतरंज के खिलाड़ी (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, अक्टूबर, 1924 में प्रकाशित) कहानी के दो दोस्त मिर्जा और मीर साहब शतरंज के खेल को लेकर किस कदर डूबे हुए हैं, यह देखना बड़ा दिलचस्प है। यह एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई रोचक कहानी है। लेखक कहता है कि “*वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, गरीब-अमीर सभी विलासिता में डुबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था... सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे।*”[7]

‘विनोद’ (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, नवंबर, 1924 में प्रकाशित) कहानी विद्यालयों में होने वाली विनोद लीलाओं के बड़े मनोरंजक एवं विनोदपूर्ण चित्र उपस्थित करती है। “*विद्यालयों में विनोद की जितनी लीलाएँ होती रहती हैं, वे यदि एकत्र की जा सकें, तो मनोरंजन की बड़ी उत्तम सामग्री हाथ आए। वहाँ अधिकांश छात्र जीवन की चिंताओं से मुक्त रहते हैं... वहाँ जहाँ किसी महाशय ने किसी विभाग में विशेष उत्साह दिखाया (क्रिकेट, हाकी, फुटबॉल को छोड़कर) और वह विनोद का लक्ष्य बना।*”[8] कहानी की पात्रा लूसी ने कहानी नायक चक्रधर से इच्छा प्रकट की “*मैं आपको अँगरेजी खेल खेलते देखना चाहती हूँ। मैंने आपको कभी फुटबाल या हाकी खेलते नहीं देखा। अँगरेज जेंटिलमैन के लिए हॉकी, क्रिकेट आदि में सिद्धहस्त होना परमावश्यक है।*”[9] इस प्रकार यह कहानी पूरी तरह से हास्य-व्यंग्य में डूबी हुई रोचक कहानी है।

‘डिक्री के रुपए’ (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, जनवरी, 1925 में प्रकाशित) कहानी दो सहपाठियों नईम और कैलास की मित्रता और परीक्षा की कहानी है। कहानी अनुसार “नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक अभिन्नता थी, जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलास बाग का कोमल पौधा; नईम को क्रिकेट और फुटबाल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तकावलोकन का।”[10]

‘भाड़े का टट्टू’ (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, जुलाई, 1925 में प्रकाशित) कहानी दो शिक्षित सहपाठियों यशवंत और रमेश की है। यशवंत आत्मा को मानता है और रमेश धन को, इसलिए यशवंत रमेश को भाड़े का टट्टू कहता है। “*यशवंत और रमेश साथ-साथ स्कूल में दाखिल हुए और साथ-ही-साथ उपाधियाँ लेकर कॉलेज से निकले। यशवंत कुछ मंदबुद्धि, पर बला का मेहनती था। जिस काम को हाथ में लेता, उससे चिमट जाता और उसे पूरा करके ही छोड़ता। रमेश तेज था, पर आलसी। घंटे-भर भी जमकर बैठना उसके लिए मुश्किल था। एम.ए. तक तो वह आगे रहा और यशवंत पीछे, मेहनत बुद्धि-बल से परास्त होती रही, लेकिन सिविल-सर्विस में पाँसा पलट गया। यशवंत सब धंधे छोड़कर किताबों पर पिल पड़ा; घूमना-फिरना, सैर-सपाटा, सर्कस-थिएटर, यार-दोस्त, सबसे मुँह मोड़कर अपने एकांत कुटीर में जा बैठा।*

रमेश दोस्तों के साथ गपशप उड़ाता, क्रिकेट खेलता रहा। कभी-कभी मनोरंजन के तौर पर किताबें देख लेता।"[11]

'बड़े बाबू' (बहारिस्तान, उर्दू मासिक पत्रिका, फरवरी, 1927 में प्रकाशित) पूर्णरूप से व्यंग्यपूर्ण कहानी है। कहानी में आद्योपांत ऐसा तीव्र व्यंग्य इससे पूर्व की कहानियों में कम ही दिखाई पड़ता है। कहानी का कथावाचक कहता है कि "खुदा के फजल से लहीम-शहीम आदमी हूँ, जिन दिनों कॉलेज में था, मेरे डील-डौल और मेरी बहादुरी और दिलेरी की धूम थी। हाकी टीम का कप्तान, फुटबाल टीम का नायब कप्तान और क्रिकेट का जनरल था।"[12]

'मंत्र' (विशाल भारत, हिंदी मासिक पत्रिका, मार्च 1928 में प्रकाशित) कहानी में लेखक कहता है कि "*संध्या का समय था। डॉक्टर चड्ढा गोल्फ खेलने को तैयार हो रहे थे। मोटर द्वार के सामने खड़ी थी कि दो कहार एक डोली लिए आते दिखाई दिए। डोली के पीछे एक बूढ़ा लाठी टेकता चला आता था. .... बूढ़े ने हाथ जोड़कर कहा- 'हुजूर, बड़ा गरीब आदमी हूँ। मेरा लड़का कई दिन से... डॉक्टर चड्ढा ने कलाई पर नजर डाली। केवल दस मिनट समय और बाकी था। गोल्फ-स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले- कल सबेरे आओ, कल सबेरे; यह हमारे खेलने का समय है।*"[13] कहानी जीवन जीने का मंत्र सिखाती है।

अलग्योझा (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, अक्टूबर, 1929 में प्रकाशित) कहानी ग्रामीण जीवन में संयुक्त परिवार के टूटने और उसे जोड़ने की कहानी है। लेखक कहता है कि "*भोला महतों ने पहली स्त्री के मर जाने के बाद दूसरी सगाई की, तो उसके लड़के रग्घू के लिए बुरे दिन आ गए। रग्घू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। चैन से गाँव में गुल्ली-डंडा खेलता फिरता था। माँ के आते ही चक्की में जुतना पड़ा।*"[14]

होली का उपहार (माधुरी, हिंदी मासिक पत्रिका, अप्रैल, 1931 में प्रकाशित) कहानी का शीर्षक 'होली का उपहार' है, लेकिन यह कहानी स्वाधीनता संग्राम के उपहार की कहानी है। "*मैकूलाल अमरकांत के घर शतरंज खेलने आए, तो देखा वह कहीं बाहर जाने की तैयारी कर रहे हैं।*"[15]

'गुल्ली-डंडा' (हंस, हिंदी मासिक पत्रिका, फरवरी, 1933 में प्रकाशित) कहानी खेल विमर्श की दृष्टि से प्रेमचंद की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। पाठक इसके शीर्षक से ही यह बखूबी अंदाजा लगा लेता है कि यह ग्रामीण परिवेश के महत्त्वपूर्ण खेल गुल्ली-डंडा को व्यक्त करती एक महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी के कथावाचक की नजर में विदेशी खेल बहुत महँगे होते हैं, जबकि ग्रामीण खेल जैसे गुल्ली-डंडा बहुत ही सस्ता खेल है, यह बच्चों का प्रिय खेल है। अगर दो लोग भी इकट्ठे हो जायें तो खेल शुरू हो सकता है। कहानी की शुरुआत में ही लेखक कथावाचक के माध्यम से इस खेल की विशेषता एवं ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता को एक लंबे अवतरण द्वारा परिभाषित किया है। पाठकों के लिए महत्वपूर्ण इस अवतरण का विशेष महत्त्व है, इसलिए यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। कथावाचक कहता है कि "*हमारे अंग्रेजीदाँ दोस्त मानें या न मानें, मैं तो यही कहूँगा कि गुल्ली-डंडा सब खेलों का राजा है। अब भी कभी लड़कों को गुल्ली-डंडा खेलते देखता हूँ, तो जी लोट-पोट हो जाता है कि इनके साथ जाकर खेलने लगूँ। न लॉन की जरूरत, न शिनगार्ड की, न नेट की, न थापी की। मजे से किसी पेड़ की एक टहनी काट ली, गुल्ली बना ली, और दो आदमी भी आ गए, तो खेल शुरू हो गया। विलायती खेलों में सबसे बड़ा ऐब है कि उनके सामान महँगे होते हैं। जब तक कम-से-कम एक सैकड़ा न खर्च कीजिए, खिलाड़ियों में शुमार ही नहीं हो सकता। यहाँ गुल्ली-डंडा है कि बिना हर्र-फिटकरी के चोखा रंग देता है; पर हम अंग्रेजी चीजों के पीछे ऐसे दीवाने हो रहे हैं कि अपनी सभी चीजों से अरुचि हो गई है.........ठीक है, गुल्ली से आँख फूट जाने*

का भय रहता है। तो क्या क्रिकेट से सिर फूट जाने, तिल्ली फट जाने, टाँग टूट जाने का भय नहीं रहता। अगर हमारे माथे में गुल्ली का दाग आज तक बना हुआ है, तो हमारे कई दोस्त ऐसे भी हैं, जो थापी को बैसाखी से बदल बैठे। खैर, यह तो अपनी-अपनी रुचि है। मुझे गुल्ली ही सब खेलों से अच्छी लगती है और बचपन की मीठी स्मृतियों में गुल्ली ही सबसे मीठी है। वह प्रातःकाल घर से निकल जाना, वह पेड़ पर चढ़कर टहनियाँ काटना और गुल्ली-डंडे बनाना, वह उत्साह, वह लगन, वह खेलाड़ियों के जमघटे, वह पदना और पदाना, वह लड़ाई-झगड़े, वह सरल स्वभाव, जिसमें छूत-अछूत, अमीर-गरीब का बिलकुल भेद न रहता था, यह उसी वक्त भूलेगा तब......जब........।"[16]

'दूध का दाम' (हंस, हिंदी मासिक पत्रिका, जुलाई, 1934 में प्रकाशित) कहानी के बाबू महेशनाथ जमींदार के यहाँ तीन लड़कियों के बाद लड़का पैदा हुआ। संयोग से इस बार मालकिन को दूध हुआ ही नहीं। इस कारण गाँव की भूँगी दाई ने अपने लड़के से ज्यादा जमींदार साहब के लड़के को अपना दूध पिलाया, जो कि छोटी जाति की थी। यही बच्चे बड़े होकर साथ में खेलते हैं। कहानीकार बच्चों के बीच होने वाले खेल के माध्यम से जातिगत विषमता के प्रश्न को इस अवतरण के माध्यम से देखा जा सकता है। मंगल जो कि भूँगी का लड़का है और सुरेश जमींदार बाबू महेशनाथ का लड़का है। "*एक दिन कई लड़के खेल रहे थे। मंगल भी पहुँचकर दूर खड़ा हो गया। सुरेश को उस पर दया आई या खेलने वालों की जोड़ी पूरी न पड़ती थी, कह नहीं सकते। जो कुछ भी हो, तजबीज की कि आज मंगल को भी खेल में शरीक कर लिया जाए। यहाँ कौन देखने आता है। क्यों रे मंगल, खेलेगा?*" मंगल बोला- "*ना भैया, मालिक देख लें, तो मेरी चमड़ी उधेड़ दी जाए*"......सुरेश ने कहा-"*तो यहाँ कौन आता है देखने? चल। हम लोग सवार-सवार खेलेंगे। तू घोड़ा बनेगा, हम लोग तेरे ऊपर सवारी करके दौड़ाएँगे?*"[17] मंगल कहता है कि मैं हमेशा घोड़ा बनता रहूँगा कि कभी सवारी भी करूँगा। यहाँ सुरेश कहता है कि तू दलित है तुझे अपनी पीठ पर बैठाएगा कौन? मंगल प्रतिउत्तर में कहता है कि हाँ मैं दलित हूँ, लेकिन तुम्हें मेरी ही माँ ने अपना दूध पिलाकर पाला है। यह ऐसा प्रश्न था जिसका जवाब किसी के पास नहीं था। अंत में सुरेश के दोस्त पकड़कर मंगल को घोड़ा बनाने पर मजबूर करते हैं। सुरेश सवारी करता है और गिर जाता है जिसकी शिकायत वह अपनी माँ से करता है।

'बड़े भाईसाहब' (हंस, हिंदी मासिक पत्रिका, नवंबर, 1934 में प्रकाशित) कहानी दो भाईयों की कहानी है। छोटा भाई कथावाचक है, जो कम पढ़कर भी पास हो जाता है। बड़ा भाई खूब पढ़ता, खेलते भी नहीं, फिर भी फेल हो जाते हैं। दोनों भाई हॉस्टल में रहते हैं। लेखक दोनों भाईयों के चरित्रों की विशेषता का वर्णन करते हुए कहानी को यथार्थपूर्ण बना देते हैं। शिक्षा के साथ-साथ खेलकूद का भी हमारे जीवन में कितना महत्त्व है, यह सब इतना मनौवेज्ञानिक तरीके से दर्शित किया है कि पाठक चकित रह जाता है। छोटा भाई कहता है कि "*मेरा जी पढ़ने में बिलकुल न लगता था। एक घंटा भी किताब लेकर बैठना पहाड़ था। मौका पाते ही होस्टल से निकल मैदान में आ जाता और कभी कंकरियाँ उछालता, कभी कागज की तितलियाँ उड़ाता और कहीं कोई साथी मिल गया, तो पूछना ही क्या।*" इस पर बड़े भाईसाहब छोटे भाई को समझाते हुए कहते हैं, "*मैं कितनी मिहनत करता हूँ यह तुम अपनी आँखों से देखते हो; अगर नहीं देखते; तो यह तुम्हारी आँखों का कसूर है, तुम्हारी बुद्धि का कसूर है। इतने मेले-तमाशे होते हैं, मुझे तुमने कभी देखने जाते देखा है? रोज ही क्रिकेट और हॉकी मैच होते हैं। मैं पास नहीं फटकता। हमेशा पढ़ता रहता हूँ। उस पर भी एक-एक तरजे में दो-दो, तीन-तीन साल पड़ा रहता हूँ; फिर तुम कैसे आशा करते हो कि तुम यों खेलकूद में वक्त गँवाकर पास हो जाओगे। मुझे तो दो ही तीन साल लगते हैं, तुम उम्र-भर इसी*

दरजे में पड़े सड़ते रहोगे। अगर तुम्हें इस तरह उम्र गँवानी है, तो बेहतर है घर चले जाओ और मजे से गुल्ली-डंडा खेलो।" बड़े भाईसाहब की डाँट सुनकर छोटा भाई पढ़ने का मजबूत इरादा करते हुए कहता है, *"...मैं इरादा करता हूँ कि आगे से खूब जी लगाकर पढ़ूँगा। चटपट एक टाइम-टेबिल बना डालता... मगर टाइम-टेबिल बना लेना एक बात है, उस पर अमल करना दूसरी बात। पहले ही दिन उसकी अवहेलना शुरू हो जाती। मैदान की वह सुखद हरियाली, हवा के वह हलके-हलके झोंके, फुटबॉल की तरह उछलकूद, कबड्डी के वह दाँव-घात, वॉलीबाल की वह तेजी और फुर्ती मुझे अज्ञात और अनिवार्य रूप से खींच ले जाती और वहाँ जाते ही मैं सब कुछ भूल जाता....सालाना इम्तहान हुआ। भाईसाहब फेल हो गए, मैं पास हो गया और दरजे में प्रथम आया। मेरे और उनके बीच में केवल दो साल का अंतर रह गया.....एक दिन जब मैं भोर का सारा समय गुल्ली-डंडे की भेंट करके ठीक भोजन के समय लौटा, तो भाई साहब ने मानो तलवार खींच ली और मुझ पर टूट पड़े।"* यहाँ लेखक द्वारा बड़े भाई साहब के माध्यम से वर्तमान शिक्षा प्रणाली के ऊपर एक लंबा अवतरण प्रस्तुत किया है। छोटा भाई कहानी में आगे कहता है, *" फिर सालाना इम्तहान हुआ और कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मैं फिर पास हुआ और भाई साहब फेल हो गए। मैंने बहुत मेहनत नहीं की; पर न जाने कैसे दरजे में अव्वल आ गया। मुझे खुद अचरज हुआ। भाई साहब ने प्राणांतक परिश्रम किया। कोर्स का एक-एक शब्द चाट गए थे....मगर बेचारे फेल हो गए....मेरे और भाई साहब के बीच में अब केवल एक दरजे का अंतर और रह गया....एक दिन संध्या समय, हॉस्टल से दूर, मैं एक कनकौआ लूटने बेतहाशा दौड़ा जा रहा था...सहसा भाई साहब से मेरी मुठभेड़ हो गई, जो शायद बाजार से लौट रहे थे। उन्होने वहीं मेरा हाथ पकड़ लिया और उग्र भाव से बोले-'इन बाजारी लौंडों के साथ धेले के कनकौए के लिए दौड़ते तुम्हें शर्म नहीं आती?' तुम्हें इसका भी कुछ लिहाज नहीं कि अब तुम नीची जमाअत में नहीं हो; बल्कि आठवीं जमाअत में आ गए हो और मुझसे केवल एक दरजा नीचे हो। आखिर आदमी को कुछ तो अपनी पोजीशन का ख्याल रखना चाहिए......मुझे तुम्हारी इस कमअकली पर दुख होता है.......मैं उनकी इस नई युक्ति से नत-मस्तक हो गया। मुझे आज सचमुच अपनी लघुता का अनुभव हुआ और भाई साहब के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई....भाई साहब ने मुझे गले लगा लिया और बोले-'मैं कनकौए उड़ाने को मना नहीं करता।' मेरा जी भी ललचाता है; लेकिन करूँ क्या, खुद बेराह चलूँ, तो तुम्हारी रक्षा कैसे करूँ....संयोग से उसी वक्त एक कटा हुआ कनकौआ हमारे ऊपर से गुजरा। उसकी डोर लटक रही थी। लड़कों का एक गोल पीछे-पीछे दौड़ रहा था। भाई साहब लंबे हैं ही! उछलकर उसकी डोर पकड़ ली और बेतहाशा होस्टल की तरफ दौड़े। मैं पीछे-पीछे दौड़ रहा था!"*[18] आखिरकार प्रेमचंद कहानी के अंत में खूब पढ़ने वाले व खेलकूद में कम दिलचस्पी रखने वाले बड़े भाईसाहब को भी खिलाड़ी बना देते हैं और जीवन में शिक्षा के साथ-साथ खेलकूद के महत्त्व को भी स्थापित कर देते हैं।

'स्वाँग' (जामिया, उर्दू मासिक पत्रिका, जनवरी, 1935 में प्रकाशित) कहानी ऐसी कहानी है, जिसमें होली में दामाद पहली बार ससुराल आता है और वह भी ऐसा दामाद, जो राजपूत खानदान में पैदा होकर भी वीरता एवं निर्भयता में कतई राजपूत नहीं है, बल्कि ठीक उल्टा है, नाजुक बदन, ऐनकबाज तथा फैशनेबुल। गजेन्द्र सिंह के नाम में सिंह है, लेकिन राजपूती के कोई लक्षण न थे। *" गजेन्द्र सिंह अपने सालों से विद्यार्थी काल के कारनामें बयान कर रहा था। फुटबाल में किस तरह एक देव जैसे लंबे-तड़ंगे गोरे को पटखनी दी, हाकी मैच में किस तरह अकेले गोल कर लिया।"*[19] यही झूठा स्वाँग कहानी के अंत में गजेन्द्र सिंह को भारी पड़ जाता है। उसके साले व सालियाँ एक झूठी कहानी रच गजेन्द्र सिंह के स्वाँग की पोल खोल कर शर्मिन्दा कर देते हैं। कहानीकार ने बड़े ही हास्य-व्यंग्य एवं रोचक अंदाज में इसे प्रस्तुत किया

है। पाठकों को एक बार इस कहानी को अवश्य पढ़ना चाहिए।

'क्रिकेट मैच' (जमाना, उर्दू मासिक पत्रिका, जुलाई, 1937 में प्रकाशित) कहानी क्रिकेट खिलाड़ी जफर की डायरी के रूप में लिखी गई है, लेकिन कथा का सूत्र इंग्लैंड से डॉक्टरी करके आने वाली हेलेन मुकर्जी के हाथ में है। वही कथा की जन्मदात्री है और वही कहानी का अंत करके जीवन का संदेश देती है। कहानी में 1 जनवरी, 1935 के दिन हुए क्रिकेट मैच की चर्चा करते हुए डायरी लेखक कहता है, "*आज क्रिकेट मैच में मुझे जितनी निराशा हुई, मैं उसे व्यक्त नहीं कर सकता। हमारी टीम दुश्मनों से कहीं ज्यादा मजबूत थी, मगर हमें हार हुई और वे लोग जीत का डंका बजाते हुए ट्रॉफी उड़ा ले गए। क्यों? सिर्फ इसलिए कि हमारे यहाँ नेतृत्व के लिए योग्यता शर्त नहीं। हम नेतृत्व के लिए धन-दौलत जरूरी समझते हैं। हिज हाइनेस कप्तान चुने गए, क्रिकेट बोर्ड का फैसला सबको मानना पड़ा। मगर कितने दिलों में आग लगी, कितने लोगों ने हुक्में हाकिम समझकर इस फैसलें को मंजूर किया, वह खेलने वालों से पूछिए......हम खेले और जाहिरा दिल लगाकर खेले। मगर यह सच्चाई के लिए जान देने वालों की फौज न थी। खेल में किसी का दिल न था।*"[20] मिस हेलेन मुकर्जी जफर से बंबई में मिलती है। यहाँ से दोनों लखनऊ जाते हैं। मिस मुकर्जी क्रिकेट की एक नई टीम बनाना चाहती है जिसका नाम हेलेन ने 'ऑल इंडिया टीम' रखा था। इस हेतु वह कई शहरों की यात्रा करती हुई लखनऊ से जफर, बृजेन्द्र तथा सादिक को चुनती है। दिल्ली से तीन खिलाड़ी जाफर, मेहरा और अर्जुन सिंह, दो खिलाड़ी अलीगढ़ से, तीन लाहौर से और एक अजमेर से। विभिन्न शहरों से खिलाड़ी चुनकर टीम के साथ बंबई पहुँचती है। इस टीम का आस्ट्रेलियन टीम से मैच होता है और हेलेन की टीम जीतती है। इस जीत का वर्णन करते हुए डायरी लेखक कहता है, "*कल आस्ट्रेलियन टीम से हमारा मैच खत्म हो गया। पचास हजार से कम तमाशाइयों की भीड़ न थी। हमने पूरी इनिंग्स से उनको हराया और देवताओं की तरह पुजे.......मैच खत्म होते ही शहर वालों की तरफ से हमें एक शानदार पार्टी दी गई। ऐसी पार्टी तो शायद वाइसराय के सम्मान में भी न दी जाती होगी।*"[21]

समग्रत: कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में इन खेलों के महत्त्व को समाहित कर कहानियों को ऊर्जावान बना दिया।

संदर्भ :

1. नया मानसरोवर, कहानी संग्रह, संपादन-संकलनकर्ता : डॉ. कमल किशोर गोयनका, खंड-1, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2017 : 327-328
2. वही : 336
3. वही : 399
4. वही : 408
5. वही, खंड-2 : 57-58
6. वही, खंड-4 : 144-147
7. वही : 160
8. वही : 172
9. वही : 181
10. वही : 208
11. वही : 288
12. वही, खंड-5 : 16

13. वही : 188
14. वही : 368
15. वही, खंड-7 : 110
16. वही : 415
17. वही, खंड-8 : 73-74
18. वही : 113-122
19. वही : 135
20. वही : 313
21. वही : 324

❑❑❑

आलेख

लघु पत्रिका 'उत्तरार्द्ध' में साम्प्रदायिकता विमर्श

❍ सुरेश चंद्र

साम्प्रदायिकता हमारे देश की बड़ी समस्या है। पराधीन भारत में स्वाधीनता आन्दोलन के दौर से लेकर भारत विभाजन और मन्दिर व मस्जिद के विवाद तक में साम्प्रदायिकता की कुत्सित भावना के बरते जाने के जो उदारण हैं वे मानवता को शर्मसार करते हैं। साम्प्रदायिकता के प्रवेश से भारत राष्ट्र की लोकतन्त्रात्मक राजनीति विकृत हुई है। मतदाता अपना मत अपने धर्म, अपने वर्ण और अपनी जाति के प्रत्याशी को देना पसन्द करता है। चुनाव में मतदाताओं द्वारा प्रत्याशियों के राष्ट्र के विकास में योगदान को नजरन्दाज करके उनके धर्म, वर्ण और जाति को प्रधानता देना लोकतन्त्र के लिए चुनौती है। साम्प्रदायिकता के कारण ही राजनेता जनता के बीच तुष्टीकरण की कुनीति बरतते हैं। मानवीय सरोकारों के प्रति प्रतिबद्ध और भारत राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष चरित्र में आस्था रखने वाला प्रत्येक साहित्यकार और बुद्धिजीवी इस समस्या के समाधान का उपक्रम करता है। साम्प्रदायिकता की समस्या की भयावहता ने साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को साम्प्रदायिकता विमर्श के लिए बाध्य किया। लघु पत्रिका *'उत्तरार्द्ध'* जनवादी मूल्यों के प्रचार-प्रसार के लिए प्रतिबद्ध लघु पत्रिकाओं में अग्रणी पत्रिका है। साम्प्रदायिकता का विरोध इस पत्रिका के यशस्वी सम्पादक सव्यसाची के लिए वरीय मुद्दा रहा है। उन्होंने इस पत्रिका में न केवल साम्प्रदायिकता विरोधी रचनाओं के साथ साम्प्रदायिकता केन्द्रित विचारपरक सैद्धान्तिक लेख प्रभूत संख्या में प्रकाशित किए, बल्कि इसका साम्प्रदायिकता विरोधी अंक भी प्रकाशित किया है। साम्प्रदायिकता केन्द्रित विचारपरक सैद्धान्तिक लेखों में साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों की मानवीय सरोकारों से सम्बद्ध विचारधारा अभिव्यक्त हुई है। यहाँ कुछ प्रमुख लेखों में विन्यस्त साम्प्रदायिकता विमर्श पर प्रकाश डालने की कोशिश यहाँ की जा रही है।

'उत्तरार्द्ध' पत्रिका के अंक-24 में प्रकाशित रविकान्त जगदीश्वर के *'इतिहास और साम्प्रदायिकता'* शीर्षक लेख में इतिहास लेखन की साम्प्रदायिक दृष्टि पर तर्क संगत विचार किया गया है। उनके अनुसार भारतीय इतिहास साम्प्रदायिक दृष्टि से ही लिखा गया है। यह इतिहास ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के निहित स्वार्थों की सुरक्षा के उद्देश्य को लेकर लिखा गया था। इतिहास का विभाजन हिन्दू-काल, मुस्लिम-काल और आधुनिक काल में किया जाना उचित नहीं है। ऐसा करने से साम्प्रदायिकता बढ़ती है।

'उत्तरार्द्ध' पत्रिका का अंक-30 साम्प्रदायिकता विरोधी अंक है। इस अंक में प्रकाशित *'भारतीयता के खिलाफ खड़ा है हिन्दूवाद'* (पुरुषोत्तम अग्रवाल), *'राष्ट्रीय समाचार पत्रों में साम्प्रदायिक उभार'* (राजेन्द्र शर्मा), *'साम्प्रदायिकता आधुनिक सन्दर्भ में'* (श्रीप्रकाश कश्यप) और *'जन संचार माध्यम और साम्प्रदायिकता'* (जवरीमल्ल पारख) लेखों में साम्प्रदायिकता पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है।

जवरीमल्ल पारख ने '*जन संचार माध्यम और साम्प्रदायिकता*' शीर्षक लेख में साम्प्रदायिकतावादियों द्वारा अखबारों, रेडियो, दूरदर्शन और फिल्मों के माध्यम से धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों के विरुद्ध परोसी जाती रही साम्प्रदायिकता का पर्दाफाश किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में पत्रकारों ने जनता के प्रति अपनी धर्मनिरपेक्षतात्मक जिम्मेदारी की जो उपेक्षा की है उससे साम्प्रदायिकतावादियों के हौसले बुलन्द हुए हैं।

साम्प्रदायिक दंगे भारत में आम बात हो गये हैं। इन दंगों में भारत राष्ट्र की जन और संसाधन दोनों स्तर पर बहुत बड़ी हानि होती है। इन दंगों को मानव सभ्यता के लिए चुनौती के तौर पर लेते हुए पत्रकारों को इन दंगों से सम्बद्ध हर जानकारी मुकम्मल और स्पष्ट रूप में देनी चाहिए। जवरीमल्ल पारख ने उदाहरणों के साथ सिद्ध किया है कि कुछ पत्रकार साम्प्रदायिक दंगों के प्रति अगम्भीर दृष्टिकोण अपनाते हैं और भारत राष्ट्र के नागरिकों को सत्य नहीं जानने देते हैं। उन्होंने मेरठ (उत्तर प्रदेश) में हुए साम्प्रदायिक दंगे के सन्दर्भ में प्रचार माध्यमों के दोषपूर्ण साम्प्रदायिक प्रयोग का उदाहरण दिया है; यथा,

> *"मेरठ में हाल में हुए दंगों के दौरान मलियाना व हाशिमपुरा में पी.ए.सी. ने उल्पसंख्यकों के प्रति क्रूर और हिंसक व्यवहार किया, जिसके फलस्वरूप कई निर्दोष अल्पसंख्यक मार डाले गये। इन घटनाओं को सरकारी माध्यमों ने पूरी तरह से दबा दिया। समाचार पत्रों ने इस दहशतजदा काण्ड को आँकड़ों के खेल में परिणत कर दिया। हिन्दी, उर्दू व अंग्रेजी के समाचार पत्रों में से अधिकांश ने साम्प्रदायिक नजरिये के अनुकूल व्याख्याएँ पेश कर दूसरे सम्प्रदाय को अपराधी सिद्ध करने का प्रयास किया और शासन की असफलता तथा पी.ए.सी. की अपराधपूर्ण कारगुजारियों पर पर्दा डाल दिया।"*[1]

भारत राष्ट्र में बहुधर्मी समाज रहता है। इस तथ्य को सामासिक संस्कृति के पुष्ट घटक के तौर पर भी प्रस्तुत किया जाता है। सभी धर्मों के अनुयायियों के अपने-अपने विश्वास और आस्थाएँ हैं, जिन्हें वे परम्परागत रूप से बरतते आ रहे हैं। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में यह सब धर्मों के अनुयायियों का समान अधिकार है। बलि/कुर्बानी का भारत राष्ट्र के नागरिकों के धार्मिक मामलों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जाहिर-सी बात है कि जब जीव की बलि/कुर्बानी की बात होगी तो वहाँ हिंसा होगी। जन संचार माध्यमों से जुड़े लोगों का इस सन्दर्भ में नजरिया जो भी हो, वह समान होना चाहिए। लेकिन साम्प्रदायिक मीडिया कर्मी यहाँ भी साम्प्रदायिकता बरतते हैं। जवरीमल्ल पारख ने इस सच्चाई को बहुत बारीकी से पकड़ा है और प्रस्तुत लेख में दर्ज किया है। उन्होंने लिखा है कि,

> *"अपवाद स्वरूप ही दंगों के दौरान साम्प्रदायिक सौहार्द के किसी उदाहरण को समाचारों में स्थान दिया जाता है। कई बार तो ऐसे समाचार भी इस ढंग से छापे जाते हैं कि लगे कि अमुक सम्प्रदाय के लोग तो उदार और शान्तिप्रिय हैं, किन्तु दूसरा सम्प्रदाय उग्र और हिंसक प्रवृत्ति का है और इस तरह साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना को और अधिक प्रोत्साहित किया जाता है। कभी-कभी यह काम अत्यन्त चतुराई से किया जाता है। हाल ही में ईदुलजुहा के अवसर पर 'जनसत्ता' में एक छायाचित्र प्रकाशित किया गया, जिसमें एक मुसलमान युवक को तीन-चार हृष्ट-पुष्ट बकरों को ले जाते हुए दिखाया गया है। स्पष्ट ही यह चित्र मुसलमानों की कथित हिंसक मनोवृत्ति को रेखांकित करने के लिए प्रकाशित किया गया (हिन्दू साम्प्रदायिक तत्व इस बात का प्रचार करते रहे हैं कि मुसलमान स्वभाव से ही क्रूर और हिंसक होता है।) अन्यथा ईदुलजुहा पर नमाज पढ़ते हुए या ईद मिलते हुए लोगों का चित्र भी प्रकाशित किया जा सकता था। समाचारों में इस तरह की साम्प्रदायिक चतुराई अब दूरदर्शन पर भी देखी जा सकती है।"*[2]

फिल्मों का लोगों पर त्वरित और व्यापक प्रभाव पड़ता है। साम्प्रदायिकतावादी ताकतें जनता के बीच अपने पक्ष में माहौल बनाने के उद्देश्य से फिल्मों का भी जमकर प्रयोग करती हैं। जनता तर्क न करे। श्रमशील वर्ग भाग्य के भरोसे रहकर पूँजीपतियों की कमाई का यन्त्र बना रहे। यह सुनिश्चित करने के लिये अन्ध श्रद्धा को पुष्ट करने वाली फिल्में बनायी जाती हैं। ऐसी फिल्में जनचेतना को जाग्रत करने के स्थान पर ऐसी रूढ़िवादिता का प्रचार-प्रसार करती हैं जो समाज के अनुत्पादक अन्धविश्वासों की खेती करने वाले समुदाय का हित करती हैं। फिल्मों द्वारा बरती जाने वाली साम्प्रदायिकता की वास्तविकता को जवरीमल्ल पारख ने इस लेख में विस्तार से अनावृत्त किया है।

'उत्तरार्द्ध' के संयुक्तांक : 33-34 में शहीद भगत सिंह का *'साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज'* शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। शहीद भगत सिंह ने पराधीन भारत में स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान अपने समय में साम्प्रदायिकता का जो दुष्परिणाम देखा, सुना और पढ़ा उससे चिन्तित होकर यह लेख लिखा था। सन् 1927 ई. में लिखे गये इस लेख का प्रारम्भ उन्होंने देश के तत्कालीन साम्प्रदायिक भयावह परिवेश के उल्लेख से किया है। उन्होंने लिखा है -

> *"भारतवर्ष की दशा इस समय बड़ी दयनीय है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों के जानी दुश्मन हैं। यदि इस बात का अभी यकीन न हो तो लाहौर के ताजा दंगे ही देख लें। किस प्रकार मुसलमानों ने निर्दोष हिन्दुओं को मारा है और किस प्रकार सिखों ने भी वश चलते कोई कसर नहीं छोड़ी है। यह मारकाट इसलिये नहीं की गयी कि फलाँ आदमी दोषी है, वरन इसलिये कि फलाँ आदमी हिन्दू है या सिख है या मुसलमान है। बस किसी व्यक्ति का सिख या हिन्दू होना मुलमानों द्वारा मारे जाने के लिये काफी था और इसी तरह किसी व्यक्ति का मुसलमान होना ही उसकी जान लेने के लिये पर्याप्त तर्क था।....ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान का भविष्य बहुत अन्धकारमय नजर आता है।"*[3]

साम्प्रदायिकता को लेकर भारत के भविष्य के सन्दर्भ में शहीद भगत सिंह की चिन्ता बहुत ठीक थी। वे भारत के भविष्य को सुखद-सम्पन्न बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने न केवल देश के नाम बलिदान करने का मार्ग चुना था, बल्कि साम्प्रदायिकता की समस्या को जड़ से समाप्त करने के उपाय भी सुझाये। उन्होंने साम्प्रदायिक दंगों के लिए उत्तरदायी तत्वों से समाज को अवगत कराया। उन्होंने साम्प्रदायिक दंगों के पीछे नेताओं और पत्रकारों का हाथ बताया। उनके शब्द हैं-

> *"जहाँ तक देखा गया है, इन दंगों के पीछे साम्प्रदायिक नेताओं और अखबारों का हाथ है. ...वही नेता जिन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराने का बीड़ा अपने सिर उठाया था, जो समान राष्ट्रीयता और स्वराज-स्वराज के दमगते मारते नहीं थकते थे, वही या तो अपना सर छिपाये बैठे हैं या इसी धर्मान्धिता के बहाव में बह चले हैं।....दूसरे सज्जन जो साम्प्रदायिक दंगों को भड़काने में विशेष हिस्सा ले रहे हैं, वे अखबार वाले हैं।"*[4]

शहीद भगत सिंह ने साम्प्रदायिक दंगों की जड़ की पहचान की। उन्होंने आर्थिक कारण को इन दंगों की जड़ माना है। आर्थिक बदहाली की दशा में मनुष्य साम्प्रदायिकता की दुर्भावना बरतने के लिये विवश हो जाता है। मनुष्य के सामने जब पेट का सवाल सबसे बड़ा हो जाता है तब वह साम्प्रदायिकता के दुष्परिणामों का ध्यान नहीं करता और साम्प्रदायिक दंगा जैसे अमानवीय कृत्य में संलग्न हो जाता है। शहीद भगत सिंह ने भारत में होने वाले साम्प्रदायिक दंगों का इलाज भारत की आर्थिक दशा में सुधार बताया है। अपने मत को तर्क के साथ प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि,

> *"यदि इन साम्प्रदायिक दंगों की जड़ खोजें तो हमें इसका कारण आर्थिक ही जान पड़ता है। असहयोग के दिनों में नेताओं व पत्रकारों ने ढेरों कुर्बानियाँ दीं। उनकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी थी। असहयोग आन्दोलन के धीमा पड़ने पर नेताओं के धन्धे चौपट हो गये। विश्व में जो भी काम होता है, उसकी तह में पेट का सवाल जरूर होता है। कार्ल मार्क्स के तीन सिद्धान्तों में से वह एक मुख्य सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के कारण ही तबलीग, तनकीम, शुद्धि आदि संगठन शुरू हुए और इसी कारण से हमारी ऐसी दशा हुई, जो अवर्णनीय है। बस, सभी दंगों का इलाज यदि कोई हो सकता है तो भारत की आर्थिक दशा में सुधार से ही हो सकता है, क्योंकि भारत के आम लोगों की आर्थिक दशा इतनी खराब है कि एक व्यक्ति दूसरे को चवन्नी देकर किसी और को अपमानित करवा सकता है। भूख और दुख से आतुर होकर मनुष्य सभी सिद्धान्त ताक पर रख देता है। सच है, मरता क्या न करता।"*[5]

अर्थाभाव से पीड़ित लोग साम्प्रदायिकता के आधार पर परस्पर न लड़ें, इसके लिए शहीद भगत सिंह ने इन लोगों में वर्ग चेतना विकसित करने पर बल दिया है। साम्प्रदायिकता की समस्या के समाधान हेतु वे जन को धर्म के स्थान पर वर्ग की पहचान देना चाहते थे। अपनी बात को पुष्ट करने के लिये उन्होंने रूस का उदाहरण प्रस्तुत किया; यथा,

> *"जो लोग रूस का इतिहास जानते हैं उन्हें मालूम है कि जार के समय वहाँ भी ऐसी स्थितियाँ थीं। वहाँ भी कितने ही समुदाय थे जो परस्पर जूत पतग करते रहते थे। लेकिन जिस दिन से वहाँ श्रमिक शासन हुआ, वहाँ नक्शा ही बदल गया है। अब वहाँ दंगे नहीं हुए। अब वहाँ सभी को इन्सान समझा जाता है, 'धर्म' जन नहीं। जार के समय लोगों की आर्थिक दशा बहुत ही खराब थी, इसलिये सब दंगे फसाद होते थे। लेकिन अब रूसियों की आर्थिक दशा सुधर गयी है और उनमें वर्ग चेतना आ गयी है, इसलिये अब वहाँ से कभी दंगे की खबर नहीं आती।....वर्ग चेतना का यही सुन्दर रास्ता, जो साम्प्रदायिक दंगे रोक सकता है।"*[6]

यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है कि हमारे देश में धर्म और राजनीति दोनों के अमानवीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दुरुपयोग होता रहा है और आज भी हो रहा है। धर्म और राजनीति का स्वार्थ प्रेरित गठजोड़ साम्प्रदायिकता के रूप में परिणत होकर भारत राष्ट्र की बहुत अधिक हानि कर रहा है। शहीद भगत सिंह ने इस समस्या का इलाज धर्म और राजनीति को अलग-अलग बरतने में बताया है। उनके समय में कुछ नेताओं ने इस दिशा में आगे बढ़ने की पहल की थी। उस पहल का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा -

> *"इस समय कुछ भारतीय नेता भी मैदान में उतरे हैं, जो धर्म को राजनीति से अलग करना चाहते हैं। झगड़ा मिटाने का यह भी एक सुन्दर इलाज है और हम इसका समर्थन करते हैं। यदि धर्म को अलग कर दिया जाये तो राजनीति पर हम सभी इकट्ठा हो सकते हैं, धर्मों में हम चाहे अलग-अलग ही रहें।"*[7]

'उत्तरार्द्ध' पत्रिका का अंक-36 समाजवाद का पक्षधर साम्प्रदायिकता विरोधी अंक के रूप में प्रकाशित हुआ। इस अंक में नामवर सिंह, आर. एस. शर्मा एवं जफर पयामी के क्रमश: '*धर्मनिरपेक्षता बनाम धर्म*', '*भारत का अतीत और साम्प्रदायिकता*' एवं '*अल्पसंख्यक, साम्प्रदायिकता और फिरकापरस्ती*' शीर्षक लेख प्रकाशित हुए हैं।

आलोचक डॉ. नामवर सिंह का '*धर्म निरपेक्षता बनाम धर्म*' शीर्षक लेख *'उत्तरार्द्ध'* पत्रिका के अंक-36

में प्रकाशित हुआ। यह लेख तात्कालिक सामाजिक सन्दर्भों को समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस लेख में डॉ. नामवर ने साम्प्रदायिकता, राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता पर विहंगम दृष्टि से विचार किया है। साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। डॉ. नामवर सिंह की मान्यता है कि साम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद दोनों का जन्म एक साथ हुआ है। ये दोनों जुड़वां तथा एक सिक्के के दो पहलू हैं। साम्प्रदायिकता राष्ट्रवाद में ही अन्तर्निर्हित है, इस तथ्य को डॉ. नामवर सिंह ने सतर्क प्रमाणित किया है। उनके शब्दों में –

> *"राष्ट्रवाद की हिमायत करने वाला शासक दल स्वयं जिस साम्प्रदायिकता का विरोध करने के लिए राष्ट्रवाद की मदद ले रहा है, वह साम्प्रदायिकता तो स्वयं उसी राष्ट्रवाद में अन्तर्निहित है, क्योंकि राष्ट्रवाद की कोई भी परिभाषा आकर टिकती है – बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक पर। मेनस्ट्रीम और गैर–मेनस्ट्रीम और अन्ततः राष्ट्रवाद बहुसंख्यक धर्म के हिमायतियों का राष्ट्रवाद बन कर रह जाता है। ...इसलिए राष्ट्रवाद की प्रकृति में ही ऐसा कुछ निहित है कि वह सम्प्रदायवाद का विरोध कर ही नहीं सकता। 19वीं सदी से हम देखते आ रहे हैं कि साम्प्रदायवाद उसमें अन्तर्निहित है, मौजूद है।"*[8]

डॉ. नामवर सिंह ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर यह भी कहा है कि बढ़ती आधुनिकता साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दे रही है। उनके ये शब्द उल्लेखनीय हैं –

> *"मैं इस दौर में अपने सामने देखता हूँ कि जो लोग जितने ही आधुनिक हैं, वे उतने ही साम्प्रदायिक होते दिखाई दे रहे हैं।"*[9]

डॉ. नामवर सिंह ने धर्म में आस्था रखने वालों को साम्प्रदायिक समझ बैठने की भूल का समाधान भी इस लेख में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सर्व धर्म समभाव की भावना धर्मनिरपेक्षता नहीं है, बल्कि उसका वास तो गहरी एवं अटूट आस्था में है। उन्होंने लिखा है –

> *"हम वामपंथी लोग जो यह सोचते थे कि धर्म माने सम्प्रदायवाद, जबकि पाया यह जाता है कि गहरा धार्मिक आदमी उतना साम्प्रदायिक नहीं होता बल्कि बिल्कुल नहीं होता। साम्प्रदायिक वे होते हैं जिनमें धार्मिक आस्था नहीं होती।"*[10]

देश में हो रही उथल–पुथल, तनाव बढ़ते हुए भ्रष्टाचारों से छुटकारा पाने के लिए डॉ. नामवर सिंह का सुझाव है कि धर्म, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद पर पुनः विचार किया जाना चाहिए।

इतिहासकार आर. एस. शर्मा ने '*भारत का अतीत और साम्प्रदायिकता*' शीर्षक लेख में साम्प्रदायिकता के प्रारम्भ, विकास और समाधान विषयक अपने विचार ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत किए हैं। आर. एस. शर्मा का मानना है कि अपने पक्ष को श्रेष्ठ मानते हुए उसे अनालोचनात्मक रूप में प्रतिष्ठापित करने के प्रयास से साम्प्रदायिकता की दुर्भावना पैदा होती है। वैदिक साहित्य विषयक श्रेष्ठता–बोध के साथ वेदों को विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत बताने से जनता में साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। उन्होंने लिखा है कि –

> *"आर्य समाज के आरम्भिक संस्थापकों द्वारा हिन्दू समाज में सुधार लाने के लिये दिखाये गये उत्साह की जगह मुस्लिम विरोधी अभियानों ने ले ली है और इससे भी बदतर यह कि उसकी जगह वेदों से एक तरह की ग्रस्तता ने ले ली है। जिसके चलते अनालोचनात्मक रूप से वेदों को दुनिया के सारे ज्ञान तथा सारी उपलब्धियों का स्रोत बताया जाता है।....जब तक इस प्रकार के*

> *जहरीले प्रचार का तथ्यों तथा साक्ष्यों के साथ जवाब नहीं दिया जाता है, जिनकी प्राचीन ग्रन्थों में कोई कमी नहीं है; तब तक इस तरह की बातें निरक्षर जनता के जेहनों को साम्प्रदायिक बनाती रहेंगी और यह चीज आम जनता के दिमाग में साम्प्रदायिकता का जहर फैलाती रहेगी। इस तरह के जहरीले साम्प्रदायिक प्रचार तथा अन्य कारणों से मिलकर ही मध्ययुग के जेहादों तथा कैथोलिकों तथा प्रोटेस्टेंटों के बीच हुए युद्धों जैसे धर्मोन्मादी युद्ध हुए थे।"*[11]

भारत में कुछ लोगों द्वारा तर्क विरुद्ध पुनरुत्थानवाद पर बहुत बल दिया जाता रहा है। इसके तहत कुछ राष्ट्रवादी-पुनरुत्थानवादी भारत के अतीत को केवल महान और श्रेष्ठतम मानकर चलते हैं और उसे पुनः वर्तमान व्यवहार में बरतने की बात करते हैं। उन्हें अतीत में नारी अपमान की स्थिति और वर्णव्यवस्था का सर्वविदित दोष तक समझ में नहीं आता है, अतीत में बरती जा चुकीं अन्य अमानवीयताओं की तो बात ही क्या करनी। आर. एस. शर्मा का मानना है कि साम्प्रदायिक सोच के लोग पुनरुत्थानवादी विचारों का प्रयोग करके देश में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में लगे हैं। इस श्रेणी के लोगों में कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकार भी सम्मिलित हैं। पुनरुत्थानवादी विचारों का साम्प्रदायिकता के प्रचार-प्रसार हेतु प्रयोग करने वाले लोगों के बारे में आर. एस. शर्मा ने लिखा है कि,

> *"मौजूदा हालत में, साम्प्रदायिक जेहनियत वाले कुछ लोग पुनरुत्थानवादी विचारों का इस्तेमाल कर रहे हैं और उन्हें बढ़ावा दे रहे हैं।....यह साफ है कि सारे घोर पुनरुत्थानवादी विचार ऐसे इतिहासकारों द्वारा पेश किए जाते हैं, जो हिन्दू साम्प्रदायिक तथा इस्लामी तत्ववादी विचारों के प्रति प्रतिबद्ध हैं। आमतौर पर पुनरुत्थानवादी प्रयासों का उद्देश्य साम्प्रदायिक लक्ष्यों की सेवा करना होता है।"*[12]

आर.एस. शर्मा ने आधुनिक काल, मध्यकाल और प्रचीन काल के भारतीय इतिहास पर काम करने वाले इतिहासकारों के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि भारत के इतिहास पर काम करने वाले कुछ इतिहासकार साम्प्रदायिक होते हैं। प्राचीन भारत के इतिहास पर काम करने वाले कुछ इतिहासकारों के साम्प्रदायिक होने के पीछे उनकी कट्टरपन्थी और अन्धी आस्थाएँ क्रियाशील रहती हैं। इस सन्दर्भ में आर. एस. शर्मा ने जो लिखा है, वह पढ़ा जाय -

> *"आमतौर पर आधुनिक काल पर काम करने वाले इतिहासकार साम्प्रदायिक विचारों से संचालित नहीं होते हैं। यहाँ तक कि मध्य काल पर काम करने वाले इतिहासकार भी विशेष साम्प्रदायिक नजर नहीं आते हैं। लेकिन प्राचीन भारत इतिहास पर काम करने वाले कुछ इतिहासकार खुद को लगभग पूरी तरह से कट्टरपन्थी तथा साम्प्रदायिक तत्वों से जोड़ते हैं और अन्धी आस्थाओं के आधार पर सरासर गलत को सही ठहराने की कोशिश करते हैं।"*[13]

आर. एस. शर्मा ने अपने लेख में साम्प्रदायिकता को भारत राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए अनेक जगह हानिकारक बताया है। इस राष्ट्रीय समस्या के समाधान के सन्दर्भ में उन्होंने तार्किक ढंग से दो बातें कही हैं। पहली बात यह कि किसी एक धर्म में आस्थावान शासकों द्वारा अन्य दूसरे धर्म में आस्था रखने वाले शासकों और शासितों के प्रति होने वाली अमानवीयता को अनदेखा नहीं करना चाहिए। दूसरी बात यह कही है कि सही ढंग से सोचने वाले लेखकों, शोधार्थियों और शिक्षकों को आगे आकर इस समस्या के समाधान हेतु अनवरत प्रयास करने चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि शासक, साहित्यकार, शोधार्थी और शिक्षक मानवोचित सोच और व्यवहार के द्वारा साम्प्रदायिकतावादियों का मुकाबला करके साम्प्रदायिकता की समस्या को समाप्त कर सकते हैं।

जनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के संचालन के चार साधन हैं - व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और पत्रकारिता। इन साधनों की सार्थकता इनका क्रियान्वयन करने का अधिकार रखने वालों की नीयत पर निर्भर करती है। भारत राष्ट्र में इन साधनों को क्रियान्वित करने का अधिकार रखने वालों की नीयत संविधान के प्रभावी होने के समय से लेकर अब तक सही तौर पर जनतन्त्रोन्मुखी नहीं हो सकी है। इसका परिणाम यह है कि संविधान में उल्लेखित जनतन्त्रात्मक मूल्य समाज में जीवन-व्यवहार नहीं बन पा रहे हैं और बहुत-से भारतीय नागरिकों को धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर साम्प्रदायिकता का दंश सहना पड़ रहा है। सेकुलरिज्म को देश की स्वतन्त्रता और अखण्डता के लिए अमृत मानने वाले दीवान वीरेन्द्रनाथ 'जफर पयामी' ने अपने '*अल्पसंख्यक, साम्प्रदायिकता और फिरकापरस्ती*' शीर्षक लेख में साम्प्रदायिकता के सन्दर्भ में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और पत्रकारिता की वास्तविक स्थिति को अनावृत्त करने के क्रम में अल्पसंख्यक के रूप में पहचान प्राप्त भारत राष्ट्र के नागरिकों के लिए साम्प्रदायिकों द्वारा पैदा की गयीं परेशानियों का उल्लेख किया है।

दीवान वीरेन्द्रनाथ 'जफर पयामी' ने साम्प्रदायिकता और फिरकापरस्ती के आगे धर्मनिरपेक्षता की जो बदहाल स्थिति अनुभव की, उसको उन्होंने अग्रांकित पंक्तियों में लिखा है-

> *"सैकुलर राजनैतिक पद्धति तो क्या, अब सरकार पर भी किसी को विश्वास नहीं रहा।....कोई भी राज्य कुछ और भले ही करे या न करे, उसे हर नागरिक को यह गारन्टी देनी आवश्यक होती है कि न्यायपालिका और प्रशासन उसके जीवन, जायदाद और आस्था की सम्पूर्ण रक्षा करेंगे। आज के भारतवर्ष की ट्रेजडी यह है कि करोड़ों नागरिकों में यह भयावह भावना विकसित हो रही है कि सरकार यही प्राथमिक जिम्मेदारी नहीं निभा रही है।....हद तो यह है कि सरकारी आँकड़ों ही के अनुसार हमारे देश में 1980 से 1986 तक दस हजार से अधिक नागरिकों ने फिरकापरस्ती के उन्माद के कारण अपनी जान खोयी और एक भी कातिल को फाँसी तो दूर मामूली सजा भी नहीं हुई- सजा तो क्या शायद कोई मुकदमा भी ठीक तरह नहीं चलाया गया। आपने कभी यह सोचा कि जब 1984 में इन्दिरा गाँधी की शहादत के बाद देश भर में लगभग पाँच हजार और राजधानी दिल्ली में तीन हजार भारतवासियों को मौत के मुँह में धकेल दिया गया तो पुलिस ने एक बार भी हवा तक में गोली नहीं चलायी।... क्या किसी संसद सदस्य ने यह पूछा कि असम के एक भाग्यहीन गाँव में 1983 की एक काली रात में जिन तीन हजार बेगुनाहों को मौत के मुँह में धकेल दिया गया उनके एक भी कातिल से आज तक कानून ने हिसाब क्यों नहीं किया?"*[14]

किसी भी समाज में भाषाओं का प्रयोग उस समाज की सहज जीवन्तता का प्रमाण होता है। बहुभाषी समाज अपने आप में सौहार्द और समन्वय के सूत्रों से निर्मित सामासिक संस्कृति के पोषक होते हैं। समाज और भाषाओं के इस सम्बन्ध में मानव सभ्यता का मानवीय विकास स्पन्दित होता है। भाषाओं और उनके ज्ञान को धर्म के चश्मों से देखना न केवल भाषाओं के साथ बल्कि मानव सभ्यता के साथ अन्याय है। विडम्बना है कि हमारे देश में यह अन्याय होता आ रहा है। इस अन्याय के पीछे सत्ताधारी वर्ग का भाषायी साम्प्रदायिकतावाद कार्यरत रहा है। भारत में उर्दू भाषा भाषायी सम्प्रदायवाद की शिकार हुई है। दीवान वीरेन्द्रनाथ 'जफर पयामी' ने उर्दू के साथ बरते गये भाषायी सम्प्रदायवाद को प्रस्तुत लेख में अनावृत्त किया है। उर्दू के साथ बरती गयी भाषायी साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय प्रश्न के तौर पर उठाते हुए उन्होंने लिखा है कि,

> "*एक और समस्या है जो काफी हद तक निजी होने के बावजूद एक राष्ट्रीय प्रश्न भी है- वह है उर्दू के साथ जानबूझ कर किये जाने वाले अन्याय का।....आखिर क्या कारण था कि उर्दू को उसकी जन्मभूमि यानी उत्तर भारत के राज्यों में विशेषकर दूसरी सरकारी भाषा का स्थान नहीं दिया गया? अगर आम सरकारी सेवाओं के लिये उर्दू ज्ञान को आवश्यक कर दिया जाता तो कौन-सी आफत आ जाती? इससे उर्दू का सम्बन्ध रोजी-रोटी से जुड़ जाता और भाषा का फैलाव भी बना रहता। इस प्रकार और नहीं तो सरकारी नौकरियों में भाषायी साम्प्रदायिकता की शिकायत ही कम हो जाती और उर्दू को एक जीवित व सम्पर्क की भाषा बनकर देश सेवा का अवसर भी मिलता। लेकिन सरकारी स्थान तो क्या, नयी शिक्षा नीति के त्रिभाषा फार्मूले में वह स्थान तक नहीं दिया गया जो उत्तर भारत में तमिल, तेलुगु और मलयालम अर्थात् दक्षिण भारतीय भाषाओं को प्राप्त है और दक्षिण भारत में हिन्दी को। इस नीति के दस्तावेज में उर्दू का नाम तक नहीं है।*"[15]

पत्रकारिता जगत् में लालची और पूर्वग्रहों से ग्रसित पत्रकार खुलेआम साम्प्रदायिकता बरतते देखे जाते रहे हैं और देखे जा सकते हैं। साम्प्रदायिकतावादी पत्रकार जनतन्त्र को कमजोर करने का घृणित कार्य करते हैं। एसे पत्रकार आम जनता को गुमराह करके साम्प्रदायिक कुशक्तियों को मजबूत करते हैं। दीवान वीरेन्द्रनाथ 'जफर पयामी' ने साम्प्रदायिकतावादी पत्रकारों की सच्चाई अग्रांकित पंक्तियों में लिखी है –

> "*जिन आदरणीय सम्पादकों ने तलाकशुदा मुस्लिम महिला के उद्धार के लिए आँसुओं के दरिया बहा दिए, वे अगर इन आँसुओं का हजारवाँ भाग दंगों में विधवा होने वाली बेसहारा औरतों के लिए समर्पित कर देते तो शायद उनकी बात में जान होती, मगर राष्ट्रीय प्रेस में न तो दंगों से होने वाली तबाही का वर्णन मिलता है न प्रशासन की बेइंसाफी और लापरवाही का, न उर्दू पर होने वाले जुल्म का न ही बढ़ती हुई बेरोजगारी और अन्धविश्वास का।*"[16]

'*उत्तरार्द्ध*' पत्रिका का अंक-37 साम्प्रदायिकता विरोधी विशेषांक है। इस अंक में प्रकाशित '*धर्मनिरपेक्षता : न विदेशी और न मुट्ठीभर अभिजनों के दिमाग का फितूर*' (सुमित सरकार), '*साम्प्रदायिकता के सांस्कृतिक प्रतिरोध की जरूरत*' (के.एन. पणिक्कर), '*यह मैं हूँ बन्दी*' (तसलीमा नसरीन) और '*हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध और हिन्दी फिल्में*' (जवरीमल्ल पारख) लेखों में साम्प्रदायिकता विमर्श हुआ है।

सुमित सरकार ने अपने लेख में धर्मनिपेक्षता और धर्मनिरपेक्षवादियों के सम्बन्ध में सम्प्रदायवादियों की आधारहीन धारणाओं का तथ्यों के आलोक में निराकरण करने का प्रयास किया है। सुमित सरकार ने बताया है कि साम्प्रदायिकतावादियों द्वारा धर्मनिरपेक्षता के विचार को स्वतन्त्र चिन्तन करने वालों, तर्कवादियों, पश्चिमीकृत बुद्धिजीवियों, धर्मों में विश्वास खो चुके लोगों और नास्तिकों तक सीमित करने की चाल चलकर इसके महत्त्व को कम करने का उपक्रम किया जाता है। जबकि सच्चाई इसके विपरीत है। सुमित सरकार ने प्रमाण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि धर्मनिरपेक्षता का प्राणतत्व सहिष्णुता है और इस रूप में धर्मनिरपेक्षता पश्चिमी देशों और भारत में धर्म में आस्था रखने वाले लोगों और शासकों ने मध्य काल से ही बरती है। उन्होंने भारत में धर्मनिरपेक्षता के इतिहास की यूरोप से भी पुराना होने की सम्भावना व्यक्त की है; यथा –

> "*आधुनिक पश्चिम से आयातित होने के बजाय अपने ही धार्मिक विश्वास के अलावा दूसरों के विश्वासों के प्रति सहिष्णुता तथा सम्मान के व्यापकतम अर्थ में धर्मनिरपेक्षता का इतिहास भारत में यूरोप के मुकाबले कहीं पुराना हो तो अचरज नहीं।*"[17]

धर्मनिरपेक्षता के इतिहास पर बात करने के क्रम में सुमित सरकार आगे साम्प्रदायिकता की बात करते हैं। उन्होंने 'साम्प्रदायिकता' शब्द का प्रयोग 'आधुनिक' विशेषण के साथ किया है। उहोंने आधुनिक साम्प्रदायिकता की परिभाषा दी है। वे लिखते हैं कि,

> "*आधुनिक साम्प्रदायिकता को भी ठीक-ठीक परिभाषित किया जाना जरूरी है। इससे आशय धर्म के आधार पर समुदाय की किसी भी तथा हरेक कल्पना से और यहाँ तक कि ऐसी साम्प्रदायिक पहचान का राजनीतीकरण करने से भी नहीं है। यहाँ आशय हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच ऐसे अपरिहार्य टकराव की कल्पना से है जो कथित रूप से दूसरे किसी भी राष्ट्रीय मुद्दे से ज्यादा बुनियादी महत्त्व रखती है।*"[18]

सुमित सरकार ने धर्मनिरपेक्षता के भेद किए हैं। अन्य भेद/भेदों का उल्लेख किए बिना ठोस भारतीय रूप वाली धर्मनिरपेक्षता की बात उन्होंने की है। इस धर्मनिरपेक्षता का विकास आधुनिक साम्प्रदायिकता के तार्किक विलोम के रूप में हुआ। सुमित सरकार ने अपने लेख के अन्त में साम्प्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता के स्वरूपों को समझाने के लिए क्रमश: गोलवलकर और गाँधी के कथनों को प्रस्तुत किया है।

के.एन. पणिक्कर अपने लेख में धर्मनिरपेक्षता के गम्भीर पैरोकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। लेखक ने लेख में पहले गोलवलकर के हिन्दू राष्ट्र विषयक विचार पर प्रकाश डालते हए आर.एस.एस. और भा. ज.पा. द्वारा भारत को हिन्दू राष्ट्र बनाने हेतु अपनाए जा रहे सांस्कृतिक-राजनैतिक उपायों का तथ्यों के साथ विस्तार से उल्लेख किया है। प्रस्तुत लेख से पाठक जान सकते हैं कि आर.एस.एस. और भा.ज.पा. ने राजनीति के साथ धर्म और संस्कृति का योग करके हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को आकार दिया है। आर.एस.एस. और भा.ज.पा. ने प्रतीकों के नवोन्वेषी प्रयोग, विद्यालयों, मोर्चा संगठनों, प्रकाशनों और मीडिया द्वारा अपनी विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने में सफलता प्राप्त की है।

के. एन. पणिक्कर ने आर.एस.एस. द्वारा अपने विद्यालयों में विद्यार्थियों की सोच को अपने एजेंडा के अनुरूप ढालने का उल्लेखनीय तथ्य उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया है। पढ़ें -

> "*हिन्दुत्व के समर्थन का एक बड़ा आधार देश भर में फैला स्कूलों का उनका जाल है। .... संस्कार भारती प्रकाशन तथा भारतीय शिक्षा समिति जैसे संघ परिवार के प्रकाशन इन स्कूलों के लिए पुस्तकें छापते हैं। मिसाल के तौर पर राजस्थान के स्कूलों में दो पुस्तक श्रृंखलाओं का उपयोग किया जा रहा है, संस्कार सौरभ और नैतिक शिक्षा। .... इन पुस्तकों का जोर धर्म पर है और इनका सन्देश साम्प्रदायिक है।.... संस्कार सौरभ संख्या-3 पाँचवीं कक्षा के लिए है। इसमें एक पाठ 30 अक्टूबर, 1990 की कार सेवा पर भी है। इसमें राजस्थान के दो युवाओं, कोठारी बन्धुओं की अयोध्या में मन्दिर के लिए शहादत का वर्णन है। यह वर्णन ऐसी भाषा में है जो उनकी मौत को समकालीन इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बना देती है। इस पाठ के बाद रखे गये अभ्यास में निम्नलिखित चार प्रश्न हैं -*
>
> 1. *कार सेवा क्या है?*
> 2. *30 अक्टूबर, 1990 को क्यों याद रखा जायेगा?*
> 3. *राम मन्दिर कहाँ बनेगा?*
> 4. *कोठारी बन्धुओं के उत्सर्ग की कहानी अपने शब्दों में लिखो।*"[19]

धर्मनिरपेक्षता में विश्वास रखने वाले भारतीयों के लिये कुछ स्वार्थी और पूर्वग्रही पत्रकारों का साम्प्रदायिक चरित्र बहुत पहले से चिन्ता का विषय रहा है। साम्प्रदायिक पत्रकार एक तो देश की जनता

को देश की वास्तविक स्थिति से अवगत नहीं होने देते और दूसरे साम्प्रदायिक ताकतों के कुत्सित एजेंडा को महिमा मंडित करके जनता के बीच प्रस्तुत करते हैं। इस स्थिति में भोली-भाली आम जनता का गुमराह हो जाना बहुत स्वाभाविक है। इससे अन्य नुकसान होने के साथ राष्ट्र में धर्मनिरपेक्षता की हानि होती है। के.एन. पणिक्कर ने धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में साम्प्रदायिक पत्रकारिता के खतरे को अग्रांकित पंक्तियों में स्पष्ट किया है -

> "*अनेक अखबार बेरोक-टोक हिन्दुत्व का शोर मचाते हैं जबकि दूसरे बहुत से लोग साम्प्रदायिकता तथा धार्मिकता के बीच एक तरह का संतुलन बनाये रखने की कोशिश करते हैं। ऐसा लगता है कि इस संघर्ष में धर्मनिरपेक्षता के लिये जगह कम से कम होती जा रही है।*"[20]

के.एन. पणिक्कर धर्मनिरपेक्षता के गम्भीर पैरोकार हैं। उनकी सोच सकारात्मक है। भारत राष्ट्र में धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा विविध प्रकार के साधनों के माध्यम से बरती जा रही साम्प्रदायिकता का मुकाबला आम जनता द्वारा रचनात्मक ढंग से करने का सराहनीय उपाय सुझाते हैं। इस राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य को वे आम जनता के बीच गठित स्थानीय सांस्कृतिक कमेटियों के माध्यम से कराने का विचार रखते हैं। इस कार्य में वे प्रतिक्रियावादी न बनने की हिदायत देते हैं; यथा -

> "*स्थानीय नाभिक के निर्माण के जरिये ही हिन्दू साम्प्रदायिकता ने अपने सांस्कृतिक तथा विचारात्मक वर्चस्व का निर्माण किया है। उसकी राजनीतिक सत्ता की जड़ें मजबूती से उसके सांस्कृतिक संगठनों की स्थानीय इकाइयों के प्रयासों से गढ़ी हुई हैं। इसलिए साम्प्रदायिकता का मुकाबला इस आम जनता के स्तर से ही शुरू करना होगा। इस तरह के प्रयास के अपने चरित्र में प्रतिक्रियात्मक हो जाने का खतरा रहता है। इसके बजाय इसे मौजूदा सांस्कृतिक प्रयास से स्वतन्त्र रूप से तथा उससे अलग से अपना विकास करना चाहिए। दूसरे शब्दों में स्थानीय सांस्कृतिक कमेटियों की दृष्टि सिर्फ साम्प्रदायिकता विरोध तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, बल्कि उनकी दृष्टि सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता की होनी चाहिए।*"[21]

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिकता की समस्या जितनी भयावह है, धर्मनिरपेक्षतावादियों ने इसे उसी स्तर पर विमर्श का विषय बनाया है और सव्यसाची ने उसके अनुरूप ही गम्भीरता दिखाते हए इस विमर्श को '*उत्तरार्द्ध*' पत्रिका में जिम्मेदार सम्पादक की हैसियत से जगह दी है।

सन्दर्भ :

1. *उत्तरार्द्ध*, अंक- 30, अक्टूबर, 1987, सम्पादक : सव्यसाची, मथुरा, उत्तर प्रदेश : 61 एवं 62
2. वही : 63 एवं 64
3. *उत्तरार्द्ध*, संयुक्तांक : 33-34, अक्टूबर, 1988, सम्पादक : सव्यसाची, मथुरा, उत्तर प्रदेश : 23
4. वही
5. वही : 23 एवं 24
6. वही : 24
7. वही
8. *उत्तरार्द्ध*, अंक- 36, अक्टूबर, 1990 : 85 एवं 86
9. वही : 87

10. वही : 88
11. वही : 92
12. वही: 93 एवं 70
13. वही : 96
14. वही : 111
15. वही : 112 एवं 113
16. वही : 113
17. वही, अंक- 37, अप्रैल, 1994 : 59
18. वही
19. वही : 65
20. वही : 66
21. वही : 68

❑❑❑

माधवराव सप्रे की समालोचकीय दृष्टि

(150वीं जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में)

❍ प्रतिभा प्रसाद

हिन्दी साहित्य संसार में माधवराव सप्रे का अप्रतिम महत्त्व रहा है। उनका लेखन काल 1900 से लेकर 1920 तक फैला हुआ है। इतनी छोटी अवधि के लेखन कार्य में भी उनकी ख्याति जगत प्रसिद्ध है। वे एक साथ महान पत्रकार, निबंधकार, कहानीकार तथा उच्चकोटि के समालोचक भी थे। साहित्य की उन्नति के लिए समालोचना को उन्होंने काफी महत्त्व दिया। उनकी समालोचनाएँ समय-समय पर प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। वे छत्तीसगढ़ मित्र, हिन्दी ग्रंथमाला, हिंदी केसरी तथा कर्मवीर के भी नियमित लेखक थे। उनकी विविध विषय संबंधी समझ उनकी लेखनी को अनंत ऊँचाई प्रदान करती है। छत्तीसगढ़ मित्र के माध्यम से उन्होंने समालोचना की उन्नति की दिशा निर्धारित की। उनकी दिली इच्छा थी कि समालोचना के विकास में नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से एक समालोचक समिति की स्थापना हो और इसी नाम से एक पत्रिका भी निकले, लेकिन उनकी दोनों ही इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकी। अतः समालोचना को ठोस आधार उनकी पत्रिका 'छत्तीसगढ़ मित्र' के माध्यम से ही मिल सकी।

समालोचना की एक महत्वपूर्ण तथा पारदर्शी दृष्टि विकसित करने में सप्रे जी का योगदान अतुलनीय है। उन्होंने अपनी समालोचना द्वारा एक संतुलित तथा तार्किक दृष्टि प्रदान की। समालोचना तथा समालोचकों के दायित्वों तथा कर्त्तव्यों को उन्होंने खुलकर साहित्य जगत के समक्ष प्रस्तुत किया। उनका कहना था – "*'समालोचक' शब्द का अर्थ यद्यपि बहुत अच्छा है, परन्तु साधारणतः कई लोग उससे बुरा ही अर्थ लेते हैं। कहते हैं कि किसी के छिद्र ढूँढ़ना और समालोचना करना एक बराबर है। चाहे जैसा हो, कोई भला कहे या बुरा, जो काम हाथ में लिया उसको अपनी बुद्धि के अनुसार ठीक-ठीक कर देना ही, समालोचक का काम है।*"[1] अतः समालोचक तथा समालोचना दोनों ही दृष्टि से सप्रे जी के विचार अत्यन्त ही व्यवस्थित तथा सुदृढ़ थे। यही कारण है कि उनकी 'जगत सचाई सार', 'लवकुशचरित्र', 'हास्य मंजरी', 'भारतगौरवादर्श', 'एकांतवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' तथा 'दण्डी' जैसी समालोचनाओं से हिन्दी साहित्य-संसार अपना एक नया मानदण्ड स्थापित करता है।

'जगत सचाई सार' श्रीधर पाठक विरचित कृति की विस्तृत समालोचना सप्रे जी ने की। वे जगत के सत्य से संसार को परिचित करवाने के पक्षपाती थे। वे संसार की असारता को स्वीकार नहीं करते। साथ-ही संसार की सारता को लेकर जड़वादी तथा आत्मवादी दृष्टिकोणों के बीच परस्पर विरोधी विचारधारा, द्वन्द्व को भी देखा तथा हमारे समक्ष खोलकर रख दिया। उन्हें दोनों मतों में कुछ-न-कुछ सत्यता दिखाई देती है। वे जगत को मिथ्या नहीं मानते हैं – "*जो लोग इसको मिथ्या जानकर निंदा करते हैं, वे यथार्थ में मनुष्योचित*

कर्त्तव्य-कर्म करने से पराङ्मुख रहते हैं और इस जगत् के बनाने में परमात्मा का जो मुख्य हेतु है, उसकी सफलता में विघ्न डालते हैं।"[2] वे संसार को दु:ख-सुखमयी मानकर मानवों को सद्‌गुणों के ग्रहण तथा आत्मोन्नति के मार्ग को प्रशस्त रखने की बात करते हैं। वे परमात्मा की इस अनमोल निधि को मानव-जीवन के लिए बहुमूल्य मानते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य के जीवन की सार्थकता उसके स्वयं के भीतर सत्य वृत्तियों की वृद्धि में निहित है तथा इस ओर ले जाने वालों को वे काफी उपयोगी मानते हैं। सारांश रूप में वे स्वीकार करते हैं कि "*प्रत्येक विचारवान मनुष्य को चाहिए कि इस संसार को असार कहकर निरा आलसी न बने, वरन् उसमें से सार वस्तु को ग्रहण करके परमात्मा का उद्धिष्ट हेतु सफल करे।"*[3] उनकी समालोचना न सिर्फ कृति पर बल्कि वैचारिक समझ पर भी संतुलित दृष्टि से प्रकाश डालती है।

पाठक जी द्वारा अनूदित ग्रंथ 'एकांतवासी योगी' (द हरमिट) तथा 'ऊजड़ ग्राम' (डेजर्टेड विलेज) पर सप्रे जी ने समालोचनात्मक दृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया है। इसमें उन्होंने भाषांतर अर्थात् अनुवाद पर विशेष रूप से अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। एकांतवासी योगी एक प्रेम कहानी है। इसमें पाठक जी ने स्वतंत्र रीति का प्रयोग कर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। उन्होंने रीति पद्धति का प्रयोग कर इस कृति को अपनी योग्यता से निखारा। इसी प्रकार ऊजड़ ग्राम का अनुवाद भी श्रीधर जी ने किया। किन्तु इस कृति का मूल अंग्रेजी रूप कई बार छप चुका परन्तु पाठक द्वारा लिखित हिन्दी संस्करण अपने दूसरे संस्करण की प्रतीक्षा में रत है। अनुवादक की दृष्टि से पाठक जी इसमें पूरी तरह सफल सिद्ध होते हैं। सप्रे जी उनके भावानुवाद पर विस्तारपूर्वक विचार करते हुए कहते हैं कि "*उन्होंने मूल अंग्रेजी काव्य में चार सौ तीस पंक्तियों को हिन्दी में सिर्फ पाँच सौ चौदह पंक्तियों में पिरो डाला। 'ऊजड़ ग्राम' के अनुवाद में पाठक जी को विशेष सफलता मिली है। उनका कहना था कि यह अनुवाद रोला छंद जैसे उत्तम छंद में किया गया और उसकी भाषा भी जहाँ तक अनुवादक से हो सकी, सरल, स्वाभाविक और मधुर बनी है। इन सब बातों को देख ऐसा कौन नहीं कहेगा कि पंडित श्रीधर पाठक का यह ग्रंथ हिन्दी भाषा में उनकी अप्रतिम कुशलता, विस्तीर्ण प्रतिभा, आश्चर्यकारक कविता-शक्ति और अद्‌भुत अनुवाद-सामर्थ्य का चिरस्मारक बना रहेगा।"*[4]

'लवकुशचरित्र' (पं. श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र) मिश्रबंधुओं द्वारा लिखी गयी है जो संवत् 1956 में छपी थी। अनेकानेक समालोचकों ने इस पुस्तक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है किन्तु श्याम बिहारी जी ने इसकी समालोचना गुण-दोषों को दृष्टि में रखकर करने का विशेष आग्रह किया। इसी को ध्यान में रखकर सप्रे जी ने इसकी समालोचना प्रस्तुत की। उनका मानना था कि किसी भी काव्य का वर्ण्य विषय उस देश की जनता तथा मानवीय वृत्ति को आगे ले जाने वाली तथा अपने गौरवपूर्ण अतीत पर समान रूप से होनी चाहिए। उन्होंने इस पुस्तक की समालोचना करते हुए सबसे पहले इसके विषय चयन को उपयुक्त नहीं माना क्योंकि दृष्टिगत व्यापकता का इसमें अभाव दिखता है। इसमें राम (युग पुरुष) की तुलना में लवकुश के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है, जो व्यापकता की अपेक्षा संकुचित दृष्टिबोध का परिचायक बनकर सामने आता है। दूसरा प्रश्न सीता परित्याग से संबंधित है। सीता के दु:ख से प्रकृतिजन्य उदासीनता की इसमें पूर्णत: उपेक्षा मिलती है, जो कविता की करुणा को कम कर देती है। यही कारण है कि वे कहते हैं – "*इस पुस्तक में कथा की विचित्रता, भाव की नूतनता, वर्णन की अनुपमता, स्वभाव का निरूपण और रस की हृदयगम्यता आदि उत्तम काव्य के गुणों का बहुत कुछ लोप भी हो गया है।"*[5] इसी प्रकार जगह-जगह दिखाई पड़ने वाली त्रुटियों पर सप्रे जी की दृष्टि जाकर रुक जाती है। भावों की न्यूनता, युद्धों की नीरसता, भाषा और छंदों, विराम-चिह्नों की त्रुटियों को समालोचक ने विस्तार से रेखांकित किया है।

आगे काशी के बाबू बालमुकुन्द वर्मा रचित उपन्यास 'सुंदरी' की समालोचना सप्रे जी की महती

उपलब्धि है। इस कृति को ‘एक नवीन तथा अपूर्व उपन्यास’ कहा गया है जबकि सप्रे जी को इसमें न कोई नवीनता और न ही कोई अपूर्वता दिखती है। उन्होंने इसे देवकीनंदन खत्री के ‘चंद्रकांता’ की नकल माना है। इस पुस्तक की ख्याति को लेकर उन्होंने प्रश्न उठाए और कहा कि “*हिन्दी के दुर्भाग्य से आजकल ऐसी ही पुस्तकों की चाह है। जिधर देखिए उधर ऐसी ही पुस्तकों की चर्चा होती है और लोग उन्हीं को बड़े चाव से पढ़ते हैं। खेद की बात तो इतनी ही है कि हमारे विद्वान, होनहार और तरुण सुशिक्षित पुरुष भी इसी प्रकार के ग्रंथ लिखने में आनंद मानते हैं। न मालूम वह दिन कब आएगा, जबकि विद्वान लोगों की रुचि इस ओर से हटकर वस्तुस्थिति का अभ्यास करने तथा देश का सच्चा हित संपादन करने में लगेगी।*”[6] इन कमियों तथा त्रुटियों के बावजूद भी उनका ऐसा विश्वास है कि इन सामग्रियों द्वारा कालान्तर में भाषा के भंडार की वृद्धि अवश्य होगी। इस कृति में अनेकानेक दोषों की ओर सप्रे जी ने हमारा ध्यान केन्द्रित किया है। भाषा तथा वर्तनी संबंधी त्रुटियाँ तथा अशुद्धियाँ भी इसमें मिलती हैं। उनका मानना है कि किसी भी कृति में पात्रों के गुणों का विश्लेषण नैतिक दृष्टि से किया जाना आवश्यक है क्योंकि नैतिकता समाज के विकास में सहायक सिद्ध होती है।

अप्रैल 1901 में ‘हास्यमंजरी’ नामक कृति की समालोचना करते हुए इसकी ‘चतुर्थ कालिका’ पर सप्रे जी ने विचार व्यक्त किया है। उनका मत है कि यह पुस्तक अपेक्षा के अनुरूप नहीं बन पायी। इसके तीसरे भाग की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि “*इस पुस्तक को ‘शिक्षापूर्ण पुस्तक’ विशेषण से नवाजा गया। परन्तु इसमें शिक्षा का पूर्णतः अभाव दिखाई देता है। शिक्षा की जगह इसमें अश्लीलता, निरुपयोगिता का समावेश दिखाई पड़ता है। इसमें समाज, गवर्नमेंट तथा चुटकुलों के द्वारा हास्य लाने की चेष्टा की बात कही गयी है। इसमें उर्दू–फारसी के बड़े–बड़े कठिन शब्द मिलते हैं। इस पुस्तक की उपयुक्तता पर विचार करते हुए वे कहते हैं- ये चुटकुले यथार्थ ही उत्तम शिक्षायुक्त दोषरहित, हास्य और चतुरता से परिपूर्ण है।*”[7] अतः इसमें मानसिक मनोरंजन अवश्य है किन्तु शिक्षाप्रद विचारों का पूर्णतः अभाव दिखता है।

पंडित सूर्यप्रसाद मिश्र द्वारा अनुवादित पुस्तक ‘भारतगौरवादर्श’ पं. लेखरामजी की ‘नुस्खा खब्त अहमदिया’ का हिन्दी रूपान्तर है। इस पुस्तक पर समालोचना करते हुए सप्रे जी ने अपनी समालोचक का नया स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। इसके टाइटल पेज पर लिखा है – ‘एतिहासिक प्रमाणों से भारतवर्ष का गौरव–निरुपण’। इसमें सप्रे जी ने ‘एतिहासिक’ शब्द की वर्तनी त्रुटि पर विचार करते हुए इसमें गुणदोषों का अनावरण किया गया है। इस पुस्तक पर विचार प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि इसमें भारत के गौरव का दर्शन करवाने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह स्वदेशवासियों के चित्त में उत्साह और उमंग पैदा करता है। इसमें भारत के अतीत का गौरवगान किया गया है। भारत को दूरवीन, आयुर्वेद, सर्जरी, स्वास्थ्य, इंजीनियरी, हस्तक्रिया, राजनीति, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, रेखागणित, खगोल, युद्ध, वनस्पति, स्त्री शिक्षा आदि में अग्रगण्य माना है किन्तु इसके बावजूद इसमें भारतवर्ष के गौरव की अपेक्षा उसका अवमूल्यन अधिक दिखता है। भारतवर्ष के गौरव के ऐतिहासिक निरूपण में अत्यधिक खामियाँ दिखाई पड़ती हैं। यही कारण है कि सप्रे जी कहते हैं – “*हमने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार जहाँ तक इस पुस्तक की परीक्षा ली, हमें यही मालुम हुआ कि इस पुस्तक के पढ़ने से अच्छे परिणाम होने के पलटे, बुरे ही परिणाम होना अधिक संभव है। विचारवान और उन्नति की इच्छा करने वाले मनुष्यों को चाहिए कि इस प्रकार की पुस्तकों में लिखे हुए सिद्धान्तों को बहुत सोच–समझकर ग्रहण करें।*”[8] भारतवर्ष किसी प्रकार अपने गौरवगान का मोहताज नहीं है। इसमें महत्त्व को कमकर आँका जाना वांछनीय नहीं है।

इसी प्रकार ‘दण्डी’ की दो पुस्तकों ‘दशकुमारचरित’ और ‘काव्यादर्श’ पर अपने विचार देते हुए

‘दशकुमारचरित’ की समालोचना की है। दण्डी के जीवन तथा रचनाशीलता पर उन्होंने प्रकाश डाला है। तथा उसकी समकालीनता पर भी विचार किया है। दण्डी के ‘दशकुमारचरित’ और भवभूति की ‘मालतीमाधव’ का तुलनात्मक विश्लेषण तथा समालोचना भी किया है। वे इसमें भवभूति को दण्डी से काफी आगे निकला हुआ मानते हैं। अतः निष्कर्षतः उन्होंने सिद्ध किया है कि – “*उक्त तीनों अंतः प्रमाणों द्वारा यह मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती कि दण्डी भवभूति के किंचित पूर्व जन्मा हो व उसका समकालीन हुआ होगा।*”[9] दशकुमारचरित को वे ‘वासवदत्ता’ तथा ‘कादम्बरी’ की श्रेणी का न मानकर ‘पंचतंत्र’ और ‘हितोपदेश’ की श्रेणी का मानते हैं। इसमें अलग-अलग दस कुमारों की शृंखलाबद्ध कथा वर्णित है। उन्होंने इस बात की भी स्वीकृति दी है कि दण्डी की कथागत मधुरता का स्वाद चखने वाले पाठक उनके प्रति कृतज्ञ रहें न कि कृतघ्नतापूर्वक उन्हें भूल जाएँ। वे कहीं भी दण्डी का अवमूल्यन नहीं करना चाहते थे। इस प्रकार सप्रे जी ने अपनी महत्त्वपूर्ण समालोचना द्वारा न सिर्फ हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया बल्कि समालोचना के नये मानदण्डों से हमें अवगत करवाया। उनकी समालोचनाएँ उनकी अद्भुत पत्रकारिता से सम्पृक्त होकर साहित्य में समालोचकों को नयी दृष्टि प्रदान करती हैं। उनकी उपर्युक्त समालोचनाएँ ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ में समयांतर तौर पर छपीं। कामता प्रसाद गुरु ने स्पष्टतः कहा है – “*हिन्दी में समालोचना का प्रारम्भ और प्रचार ‘छत्तीसगढ़ मित्र’ ने ही किया।*”[10] इतना होने के बावजूद सप्रे जी के इस अवदान को हिन्दी साहित्य ने विस्मृत कर दिया। यही कारण है कि मैनेजर पांडेय कहते हैं– “*हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन और हिन्दी आलोचना का इतिहास माधवराव सप्रे के प्रसंग में स्मृतिहीनता के शिकार हैं।*”[11] माधवजी ने समालोचना का नया स्वरूप गढ़ा। उनकी निर्मिति ने समालोचना को दिशा प्रदान की। समालोचना ने एक ऐसा मानदण्ड तैयार किया, जिसकी आधारभूमि पर आज की हिन्दी आलोचना की सुदृढ़ दीवार खड़ी दिखती है।

संदर्भ :

1. सं. मैनेजर पाण्डेय / नामवर सिंह, माधवराव सप्रे, *प्रतिनिधि संकलन*, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, सं. 2009 : 235
2. वही : 187
3. वही : 188
4. वही : 202
5. वही : 206
6. वही : 228
7. वही : 234
8. वही : 241
9. वही : 251
10. वही : 14
11. वही : 30

❑❑❑

आलेख

रघुवीर सहाय की कविता का वैचारिक आधार

❍ ब्रज बिहारी पांडेय

काव्य का सृजन विचारों की अभिव्यक्ति के लिए ही हो, आवश्यक नहीं है। परंतु कविता का संबंध जीवन से है और जीवन सामाजिक है। समाज को संचालित करने वाली शक्तियाँ हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। वह प्रभाव किसी विचार अथवा प्रणाली के तहत घटित होता है, जो समाज के साथ-साथ हमारे जीवन और हमारी भावनाओं तक को आकार देता है और कई बार तोड़ता भी है। अगर कवि जीवन की विसंगतियों व टूटन को स्वर देता है तो उसकी कविता विचार शून्य नहीं हो सकती। उसकी कविता जिन मूल्यों की स्थापना का प्रयास करती है उसके पीछे विचार या धारणा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। रघुवीर सहाय की कविताएँ भारतीय समाज में पल रहे जीवन के कटु यथार्थ की कविताएँ हैं और साथ ही उस कटु यथार्थ से मुक्ति के लिए उत्पन्न किए जाने वाले प्रतिरोध की भी। प्रतिरोध बगैर किसी विचार के नहीं होता। रघुवीर सहाय ने भी अपनी कविताओं को प्रतिरोध की ताकत देने के लिए एक वैचारिक आधार ग्रहण किया है जिसे समाजवाद के संदर्भ में देखना उचित होगा।

रघुवीर सहाय की कविताएँ दो स्तर पर वैचारिक आधार ग्रहण करती हैं- एक अंतर्वस्तु के स्तर पर; दूसरा, अभिव्यक्ति के स्तर पर। प्रथम का संबंध समाजवादी संदर्भों से जुड़ता है तथा दूसरे को कला-विषयक विचारों से।

रघुवीर सहाय की कविताओं में समाजवादी विचारों का स्वर सुनाई पड़ता है। अगर समाजवाद का स्वर हम न भी सुन सकें तो पूँजीवाद के दुष्परिणामों को हम जरूर देख सकते हैं। पूँजीवाद के दुष्परिणामों की यथार्थ अभिव्यक्ति और मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास या प्रयास के लिए पथ-प्रदर्शन में रघुवीर सहाय की वैचारिकी सामने आती है। पूँजीवाद के दुष्परिणामस्वरूप आदमी और आदमी के बीच सहज संबंधों की ऊष्मा मरती जा रही है, समाज में अलगाव का प्रभाव फैल रहा है। मनुष्य अपने जीवन की रचनात्मकता से रिश्ता खत्म करता जा रहा है। इस प्रकार वह खुद से, समाज से और समाज में रहने वाले सज्जनों से दूर होता जा रहा है। रघुवीर सहाय की कविता इस बिखराव को रोकने के प्रयास में समस्याओं की समझ और पाथेय दोनों उपस्थित करती है। इसलिए सहाय जी की कविता 'विनाश के विरुद्ध कार्रवाई है'। यह कार्रवाई किसी सिद्धांत या विचार के तहत नहीं किया जाता। यथार्थ की समझ और विवेक रघुवीर सहाय की कविता की ताकत है। वे विचार की जगह मानवीय करुणा का सहारा लेते हैं। वे कविता रचते हुए एक मानवीय प्रतिसंसार को जन्म देते हैं जिसमें प्रतिरोध के बल पर दहशत और आतंक से मुक्ति का पाथेय है। रघुवीर सहाय की दृष्टि में कविता किसी चीज को बचाए रखने का साधन है। एक ऐसा साधन जो किसी

चीज को बनाए रखने के लिए उसे नई दुनिया में लेकर जाए। वे स्वयं कहते हैं कि “*रचना का जो मार्मिक और आत्यंतिक अर्थ है वह किसी चीज को इस तरह बनाना है कि वह एक नई दुनिया की प्रतिनिधि हो, पूरे एक नए संसार की प्रतिनिधि हो। रचना के और जीवन के, कर्म के और आनन्द के आधारों के विरुद्ध जो कार्रवाई समाज में होती है, कविता मूलतः उसका विरोध करने के लिए लिखी जाती है। ...इसलिए यह बात मैं तय मानता हूँ कि कविता के द्वारा आप रक्षा भी करते हैं और रक्षा करके आप कोई चीज बचा रखते हैं। बचा रखते हैं इस तरह से कि आप उसको नए सिरे से नया बना देते हैं तभी वह बचा रह सकता है। लेकिन एक बात या विचार को महज बार बार दोहराते रहने से बचाया नहीं जा सकता। एक कविता जब किसी चीज को बचा रखती है तो तभी बचा पाती है जब उसको हर बार वह एक नए संसार के अंदर जो कि अनेक प्रकार के दूसरे सामाजिक-राजनैतिक माध्यमों द्वारा प्राप्त किया जाएगा, शामिल करे और फिर से उसको रचे। इसलिए रचना करना बचा रखना है लेकिन एक दुनिया में ले जाकर बचा रखना है। बार-बार उसी पुरानी दुनिया में उसको दुहराते रहना किसी भी तरह से रचना नहीं है। कविता किसी चीज को कहाँ तक बचा सकती है, इसकी कोई सीमा नहीं है।*”[1]

रघुवीर सहाय की दृष्टि में कविता का क्या काम है, अथवा किसी रचना कर्म का क्या उद्देश्य है, स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि उस उद्देश्य को पाने के लिए एक नई दुनिया रचने की आवश्यकता होगी। सवाल उठता है कि उस दुनिया के रचाव का आधार क्या होगा, उसका मॉडल क्या होगा। क्या रघुवीर सहाय की कविताओं में वह मॉडल मौजूद है? इस प्रश्न के आलोक में रघुवीर सहाय की कविताएँ प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं कहतीं। लेकिन अपने उद्देश्य और रचाव में जिस वैचारिक प्रतिबद्धता को लेकर चलती हैं वह समाजवाद की मूल प्रकृति से जा मिलती है। निश्चित तौर पर रघुवीर सहाय प्रगतिवादी नहीं हैं। परंतु प्रगतिशील तो वे हैं। उनकी कलात्मक प्रतिभा और प्रतिबद्धता उन्हें प्रगतिशीलता के शिखर पर स्थापित कर देती है। इसलिए रघुवीर सहाय की कविताओं का वैचारिक आधार समाजवाद के संदर्भ में खोजना समीचीन होगा।

विदित है कि ‘समाजवाद’ नामक विशिष्ट आंदोलन कार्ल मार्क्स और एंगेल्स के चिंतन पर आधारित है। इसलिए इसे ‘मार्क्सवाद’ या ‘साम्यवाद’ भी कहा जाता है। आधुनिक युग में मार्क्सवाद एक शक्तिशाली दर्शन के रूप में स्थापित है। पूरा विश्व किसी न किसी रूप में इस दर्शन से प्रभावित रहा है या है। यह दर्शन मानव समाज को उसके विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया में तार्किकता के धरातल पर समझने का प्रयास करता है। मानव समाज का ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी पक्षों का उद्घाटन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना मार्क्सवादी दर्शन की विशिष्ट उपलब्धि है। मार्क्सवाद के लिए कोई भी जीवन सूत्र आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है। वह एक सुसम्बद्ध क्रमिक विकास का परिणाम है। समाज के साथ भी वैसा ही है। कोई भी सामाजिक संरचना विकास की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरकर निर्मित होती है और इसलिए उस प्रक्रिया को समझे बगैर सामाजिक संरचना में कोई भी सकारात्मक परिवर्तन संभव नहीं है। अतः कोई भी कवि, जो अपने समय और समाज से असंतुष्ट है, और उसमें परिवर्तन का आकांक्षी है, तो भले ही वह मार्क्सवाद को न माने, परंतु उसे अपने समाज के विकास प्रक्रिया को समझकर ही अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए अग्रसर होना पड़ता है। यही वह बिन्दु है, जहाँ एक कवि की आकांक्षा उसे मार्क्सवाद अथवा समाजवाद से जाने-अनजाने जोड़ देती है। रघुवीर सहाय मार्क्सवादी नहीं है। लेकिन समाज में जिस तरह के परिवर्तन के वे आकांक्षी हैं, वह आकांक्षा उन्हें प्रगतिशील बनाती है। और, उनकी प्रगतिशीलता उन्हें समाजवाद के करीब ला खड़ा करती है।

हिन्दी साहित्य में मार्क्सवाद की अभिव्यक्ति ‘प्रगतिवाद’ के नाम से आहूत है। भारत में साम्यवादी

आंदोलन का सूत्रपात भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से होता है। 1936 ई० में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना से हिन्दी साहित्य भी उसके प्रभाव में आ गया। इसी प्रभाव को हिन्दी जगत ने प्रगतिवादी आंदोलन के नाम से पहचाना। इस आंदोलन के तहत पंत, निराला, दिनकर, नवीन, नरेन्द्र, अंचल, सुमन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध के अलावा स्वयं रघुवीर सहाय ने भी विशेष रुचि लेकर साहित्य रचा। हालाँकि, रघुवीर सहाय आंदोलन का हिस्सा कभी नहीं रहे, परंतु उनकी रचनाओं की प्रवृत्तिगत विशेषता उस आंदोलन को पुष्ट करती है।

प्रगतिवादी साहित्य के अंतर्गत सामाजिक स्थितियों का यथार्थ चित्रण होता है। प्रामाणिक यथार्थ का चित्रण काव्य की शक्ति बनती है। कवि का अनुभव जितना गहरा और अभिव्यक्ति जितनी प्रखर होती है, यथार्थ उतना ही प्रामाणिक होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रगतिवादी कवियों ने हिन्दी कविता को जमीन की ओर मोड़ा और जनप्रतिरोध की परंपरा का सूत्रपात किया। प्रगतिवाद ने मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुरूप शोषित वर्ग के दुख-दर्द, उनकी बुनियादी समस्याओं को चित्रित करने के साथ-साथ शोषक वर्ग की कुरूपता, बर्बरता और कलुषित क्रिया-कलाप को उजागर करते हुए उससे मुक्ति का रास्ता दिखाया है। इसके लिए समसामायिक यथार्थ का विवेचन, जन-जागृति एवं क्रांति का संदेश, विश्व-कल्याण की चिंता और प्रगतिशील शक्तियों की स्तुति आदि को साहित्य की अंतर्वस्तु के रूप में महत्त्व दिया गया। हिन्दी कवियों के यहाँ आम तौर पर शोषक और शोषित वर्ग से जुड़ी बातों को केन्द्रीय महत्त्व मिला है। वे समाज की आर्थिक विसंगतियों को उद्घाटित करते हुए समता मूलक समाज की कल्पना करते हैं।

रघुवीर सहाय के काव्य को भी समाजवाद के संदर्भ में देखा जा सकता है। उनकी काव्य-यात्रा का एक पक्ष मार्क्सवाद से भी प्रभावित रहा है। वे अपनी जीवन-दृष्टि का निर्माण भी मार्क्स के साथ-साथ समाजवाद के प्रबल समर्थकों -राममनोहर लोहिया, आचार्य नरेन्द्र देव एवं जय प्रकाश नारायण- से प्रेरित होकर करते हैं। सहाय जी मार्क्सवाद से प्रेरित रहे हैं, कायल नहीं। वे मार्क्सवाद को आवश्यक मानते हैं लेकिन इतना नहीं कि उसे कविता का स्थायी साँचा बना दिया जाए। उनका मानना है कि "*मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह नहीं चढ़ाया जा सकता। उसके लिए मध्यवर्गीय, धोखा खाते रहने वाले ढुलमुल यकीन को, अपनी बौद्धिक-चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रहकर एक दृष्टिकोण बनाना होगा। यह दृष्टिकोण बनाना होगा। यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इसलिए सही और स्वस्थ होगा। तभी कविता में जान और मान पैदा होंगे।*"[2]

रघुवीर सहाय ने स्वयं को किसी वाद-विशेष के दायरे में सिमटने नहीं दिया और न ही किसी आंदोलन का हिस्सा बने। वे लामबंद होने वाले कवि नहीं थे। उनकी स्वीकारोक्ति है कि "*आंदोलन की हैसियत से तो मैं किसी तरह के कविता संबंधी आंदोलन में शामिल नहीं हुआ। मुझे पता नहीं आज शामिल हूँ या नहीं हूँ, या आलोचक किस तरह किसी का उसमें शामिल होना या न होना स्थिर करते हैं, उसको मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। लेकिन अपनी ओर से सचेत भाव से मैं किसी आंदोलन में शामिल नहीं हुआ हूँ। मुझे बराबर यह लगा है कि यह जितने भी आंदोलन हुए हैं अर्थात् जितने भी नाम दिए गए हैं, उनके पीछे संगठन किया गया है, प्रचार किया गया है, सैद्धांतिक विश्लेषण किया गया है। सब बहुत दकियानूसी है। वास्तव में वे न तो रचनात्मक हैं और न आधुनिक हैं।*"[3]

रघुवीर सहाय को वादी या दलीय कवि के रूप में न देखते हुए मनोहर श्याम जोशी स्वाधीन व्यक्ति अथवा रचनाकार के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि "*जो सन् 63 से 67 का दौर है उसमें वात्सायन जी का खास चेला समझा जाने वाला रघुवीर जीवन में पहली बार वात्स्यायन जी की परछाई से मुक्त होकर*

लिख रहा था। यह बात अलग है कि जिन हिन्दी वालों का काम किसी और का चेला बताए बगैर चल ही नहीं पाता, तब रघुवीर को लोहिया का चेला बताने लगे थे। लेकिन 'स्वाधीन व्यक्ति' होने के नाते रघुवीर इस बारे में सजग रहता आया था कि उसे लोहिया के पराधीन न समझ लिया जाए।"[4] वस्तुत: रघुवीर सहाय एक पत्रकार के रूप में काम करते हुए जनवादियों, राजनैतिक दलों और नेताओं के चरित्र को बखूबी समझते थे। अत: वे इनके प्रति श्रद्धावान नहीं हो सकते थे। इस परिस्थिति में किसी दल से जुड़ना उनके लिए संभव नहीं था। रघुवीर सहाय के रचनात्मक साहित्य के अधीति विद्वान सुरेश शर्मा ने उनकी रचना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है कि "*सिर्फ समाजवादी दल ही नहीं, बल्कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, नक्सल दलों, मानवाधिकार या नागरिक समस्याओं से जुड़े किसी भी संगठन ने जहाँ कहीं भी समानता और न्याय की लड़ाई शुरू की, रघुवीर सहाय तत्काल अपनी पत्रकारिता के माध्यम से उसमें शामिल हुए। अगर उस संघर्ष के अनुभव में उन्हें कुछ अद्वितीय और संवेदनात्मक दिखा तो उसे अपनी रचना का उपजीव्य बनाया।"*[5]

ऐसा नहीं है कि रघुवीर सहाय संगठनों से नितांत पृथक रहे। अपने रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण-काल में वे कई बार वैचारिक संस्थाओं से जुड़े भी। उदाहरण के तौर पर 1946 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' और 'इप्टा' से कुछ समय के लिए जुड़ाव हुआ था। किंतु जल्द ही वे इससे विलग हो गए और कृष्ण नारायण कक्कड़ के साथ मिलकर 'लखनऊ लेखक संघ' की स्थापना की। इन संगठनों से जुड़कर सहाय जी ने अपनी विचारधारा को परिपक्व बनाया। परिणामत: उनकी कविता में सामाजिक यथार्थ व जीवन-यथार्थ का चित्रण मुखर हुआ। यथार्थ के प्रति अपने आग्रह को व्यक्त करते हुए 'दूसरा सप्तक' के वक्तव्य में उन्होंने स्पष्ट किया कि "*विचार-वस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है और यह भी संभव है जब हमारी कविता भी यथार्थ में हो।"*[6] इस तरह रघुवीर सहाय विचार को महत्त्वपूर्ण मानते हैं परंतु मताग्रही होकर न तो वे यथार्थ का चित्रण करना चाहते हैं और न ही उसका मूल्यांकन। सुरेश शर्मा के अनुसार "*मार्क्सवादी विचारधारा से सीधा संबद्ध न होते हुए भी यथार्थ उनके चिंतन और रचना का केन्द्रीय तत्त्व है। कहीं-कहीं उनके विचारों में विरोधाभास नजर आ सकता है, क्योंकि किसी भी 'मताग्रह' के अधीन होकर वे यथार्थ का मूल्यांकन नहीं चाहते।"*[7] स्पष्टत: सहाय जी का लक्ष्य यथार्थ का वैचारिक आकलन है। उनकी रचनाधर्मिता का यही आधार है। उन्हें खुद की उतनी चिंता नहीं होती, जितनी औरों की-

"परिणय की पीड़ा के अतिरिक्त धरा पर दुख हैं बहुतेरे
दृग वातायन खोलो आँसू के परदे सरकाकर देखो
कितने दुखत्रस्त आभागों से अब तक हम थे, आँखे फेरे
उनके हित यह आँसू सिरजो
उनके सुख के सपने देखो"[8]

लेकिन सुख के सपने पूरे होने में वक्त लगता है। उसके लिए मेहनत भी करनी पड़ती है। पलायन का रास्ता उचित नहीं, जिस जीवन में आशाएँ हैं, सपने हैं, उसे स्वीकार करना ही सही है-

"कुछ समय लगेगा सुख के दिन आते-आते
आओ हम मेहनत निपटा लें गाते-गाते
इस जीवन का, जिसमें आशाएँ हैं, सपने हैं, रो रोकर

हम नहीं करेंगे तिरस्कार"[9]

कवि रुदन नहीं चाहता; वह जीवन में आशाओं और सपनों को साकार होता हुआ देखना चाहता है। रोना–धोना तो जीवन का तिरस्कार है। इसलिए कवि रोमानी भावुकता से आगे बढ़कर, वैयक्तिक पीड़ा से ऊपर उठकर जीवन की व्यावहारिकता से रू–ब–रू होना चाहता है। जीवन से जुड़ी जो चिंताएँ हैं, तनाव हैं उनसे गुजरकर आशाओं की दुनिया में प्रवेश चाहता है। इस कविता में रघुवीर सहाय जीवन को सहजता के साथ स्वीकारने की बात करते हैं। प्रेम और प्रणय के प्रति वे व्यावहारिक दृष्टि अपनाते हैं। कविता में सामान्य जीवन की स्थितियाँ हैं लेकिन कवि उसे निकट से देखते हुए सामाजिक यथार्थ के सीधे संपर्क में आता है और बनी–बनाई विचार–सरणि को थोपता नहीं है अपितु जीवन की तमाम विसंगतियों को अपने विवेक और मेहनत से दूर करने की प्रेरणा देता है। वह अपने प्रगतिशील विचारों का काव्यानुवाद नहीं करता और न ही लाल झंडा, हँसिया, हथौड़ा उठाकर आंदोलन की बात करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे गरीबों और शोषितों से कोई सहानुभूति नहीं है। सच तो यह है रघुवीर सहाय शोषितों, गरीबों, मजदूरी करने वालों की चिंता प्रगतिवादियों से कहीं ज्यादा करते हैं। उनके लिए गरीबी, गुलामी, बेकारी जैसी चीजें दुश्मनों की तरह हैं। इनके साथ वैसे ही पेश आना चाहिए जैसे दुश्मनों के साथ आते हैं।

इस तरह रघुवीर सहाय की वैचारिकी समाजवाद की आत्मा को पकड़ती है शरीर को नहीं। इन्हीं अर्थों में वे प्रगतिवादी अथवा समाजवादी हैं। वे मार्क्सवादी जीवन दृष्टि से प्रभावित जरूर हैं। परंतु उस प्रभाव की अभिव्यक्ति अन्य कवियों से अलग है। सहाय जी न तो किसी खास मत या वाद से जुड़ते हैं और न ही किसी आंदोलन का हिस्सा बनते हैं। वे शोषितों, गरीबों के दुख–दर्द को महसूस करते हैं; लेकिन प्रगतिवादी विचार के तहत नहीं, प्रगतिशील चेतना के तहत। यही कारण है कि यथार्थ उनके चिंतन तथा रचना का मुख्य तत्व है। उनका कविकर्म समकालीन सामाजिक–राजनैतिक परिवेशों और उसमें पायी जाने वाली विसंगतियों व विकृतियों को पूरी ईमानदारी के साथ बेबाक तरीके से अभिव्यक्त करता है। उनकी अभिव्यक्ति केवल यथार्थ को नग्न रूप में सामने ही नहीं रखती, अपितु उसके खिलाफ एक्शन का रास्ता दिखाई देती है।

कला के संदर्भ में रघुवीर सहाय की वैचारिकी कलावाद से युक्त होने की नहीं, कला से मुक्त होने का सौन्दर्यशास्त्र रचती है। अर्थात् वह सहजता को आत्मसात करती है। इस सहजता में 'कला' मुक्त कविता रचने की कोशिश है। इस बात को सुरेश शर्मा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "*इस साधारण जीवन को घेरे हुए छोटी–छोटी घटनाओं में 'जीवन' की खोज 'नई कविता' के आरंभिक दौर में रघुवीर सहाय की कविताओं की दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। वे जीवन को उसकी स्वाभाविकता में पाना चाहते हैं। यह स्वाभाविकता जीवन को संपूर्णता में जीने का प्रयास करने वाले व्यक्ति के संवेदनशील मन की स्वाभाविकता है। यह सिर्फ सहजता नहीं है जैसा कि कुछ आलोचक इसे बताते हैं। रघुवीर सहाय के संदर्भ में जिसे सहजता कहा जाता है, वह कविता रचने की परपंरित 'कलात्मकता' से अलग हटकर एक खास तरह की 'कला' मुक्त कविता लिखने की आरंभिक कोशिश है।*"[10] कहने की आवश्यकता नहीं है कि रघुवीर सहाय ने इस कोशिश को लंबे समय तक साधा। उनकी साधना साठोत्तरी दौर में रूप ग्रहण करती हुई दिखाई पड़ती है। इस दौर में आकर वे कविताओं में प्रतीक और बिंब जैसे काव्य–उपकरणों का कम–से–कम उपयोग करते हैं। इस तरह उन्होंने एकदम नए सौन्दर्यबोध की कविताएँ लिखने का प्रयास किया। एक उदाहरण देखें :

"आज फिर शुरू हुआ जीवन
आज मैंने एक छोटी-सी सरल कविता पढ़ी
आज मैंने सूरज को डूबते हुए देर तक देखा
जी भर आज मैंने शीतल जल से स्नान किया
आज एक छोटी-सी बच्ची आई किलक मेरे कंधे चढ़ी
आज मैंने आदि से अंत तक एक पूरा गान किया
आज फिर शुरू हुआ जीवन।"[11]

इस कविता में स्वाभाविक रचनात्मक स्थितियों का सुंदर नियोजन हुआ है। यहाँ साधारण जीवन में 'नया रस' तथा नया महत्त्वबोध आभासित है। "*पूरी दिनचर्या में से कविता में जिन सामान्य स्थितियों का चुनाव किया गया है उसके प्रति कवि की सिर्फ आत्मीयता ही कविता में महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि महत्त्वपूर्ण है यहाँ जीवन की सामान्यताओं के बीच जीवन की स्वाभाविक रचनाशीलता की सार्थक पकड़।"*[12] प्रकृति में जीवन का फिर से शुरू होना, और रचनात्मक क्षणों का जीवन में बार-बार आना, यही इस कविता की भावभूमि को तय करती है। वस्तुत: प्रकृति में जीवन के फिर से शुरू होते ही नए जीवन की स्वाभाविकता की तलाश शुरू हो जाती है और जीवन की स्वाभाविकता जिस क्षण प्राप्त होती है उसी क्षण की अभिव्यक्ति में कवि की रचनात्मकता आकार लेती है। यह रचनात्मकता उस क्षण की तलाश के कारण ही उत्पन्न होती है। रघुवीर सहाय की कविता अपने कलात्मक उच्चता को किसी काव्यशास्त्रीय उपादान के सहारे प्राप्त नहीं करती। वह जीवन की स्वाभाविकता से पैदा होती है। 'जीवन, अपनी छोटी से छोटी घटना में भी उतना ही जीवन है। अगर आप महसूस कर सकें। रघुवीर सहाय आरंभ से ही इस बात को महसूस करते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि "*मेरे जीवन की कोई घटना हेय नहीं।"*[13] जीवन के साधारण चित्रों में ही सहाय जी सौंदर्य की तलाश करते हैं। यह उनका नया सौन्दर्यबोध है जो उनकी कविताओं में आरंभ से ही दिखाई पड़ता है।

रघुवीर सहाय उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के प्रयोग को अनिवार्य नहीं मानते। बल्कि इससे भी आगे बढ़कर वे कहीं-कहीं कवि की अनुभूति को सही-सही अभिव्यक्त करने में बाधक मानते हैं। इसके बावजूद उनके काव्य में अप्रस्तुत विधान सहज एवं स्वाभाविक ढंग से आया है। अप्रस्तुत विधान के सहज प्रयोग से सहाय जी की कविता में, परिस्थिति, परिवेश और उसकी भयावहता, विसंगति तथा विद्रूपता आदि और अधिक व्यंजक तथा प्रभावशाली बन गए हैं। उदाहरण देखें :

"बरसों पानी को तरसाया
जीवन से लाचार किया
बरसों जनता की गंगा पर
तुमने अत्याचार किया।"[14]

रघुवीर सहाय कलावाद के संदर्भ में जो वैचारिकी तय करते हैं उसमें शिल्प से मुक्ति का प्रयास है। उनकी मान्यता है कि कवि को शिल्प के बहकावे में नहीं आना चाहिए। उसे सदैव इस बात के प्रति सचेत रहना चाहिए। जो चीजें बहकावे में डालती हैं उसका त्याग आवश्यक है। रघुवीर सहाय ने इस बहकावे से बचने के लिए ही 'उपमा' का प्रयोग छोड़ दिया। उनका मानना है कि "*जो चीजें अभी मेरे काम की नहीं है, और शायद मेरे काम की नहीं होगी, उनमें से 'उपमा' एक है। 'उपमा' के संदर्भ में एक और बात जानने की है कि 'उपमा' हमेशा सामाजिक चेतना के दो स्तरों को एक दूसरे से तुल्य कर देती है, इसलिए वह*

बहुत खतरनाक चीज है और बहुत भटका सकती है। जिन दो चीजों की आप तुलना कर रहे हैं, हो सकता है कि वे दो बिल्कुल अलग-अलग दुनिया की चीजें हों। अगर उन दोनों में साम्य कहीं आपको दिखता है तो हो सकता है कि वह साम्य दिशाहीन हो। अतः वह आपको विपरीत दिशा में भी ले जा सकता है।"[15]

कविता का शिल्प विचार के दबाव में निर्मित होना चाहिए। वैचारिक आधार की पहचान अगर कवि को है तो वह शिल्प की पहचान भी कर लेता है। इस संदर्भ में रघुवीर सहाय का स्पष्ट मत है कि "*अपने वैचारिक आधार को मैं जानता हूँ तो कविता करने के कारण जानता हूँ यानी कविता करते हुए अपने वैचारिक आधार को पहचानता चलता हूँ जबकि यह भी सच है कि एक वैचारिक आधार पहले से रहता है। उसी तरह से यहाँ भी आवाजों की शक्ल में, बिंबों की शक्ल में, शब्दों के अर्थों की शक्ल में शिल्प का एक नमूना- कुल मिलाकर पूरी रचना के रख-रखाव, तौर-तरीके, रुझान, तथा शक्ल, सबके संदर्भ में एक हल्का-सा कभी-कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट नमूना- रचना से पहले रहता है।*"[16] निर्धारित शिल्प के अनुसार यदि लय तय हो रहा हो तो लय टूटने या ढीली पड़ने की स्थिति में प्रारूप में परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाएगा। "*यह एक संयोग नहीं है बल्कि अनिवार्यता है कि जहाँ-जहाँ मैं अपने पूर्व परिकल्पित शिल्प की जरूरतों के अनुसार कविता में नया परिवर्तन करूँ वहाँ-वहाँ के परिवर्तन वैचारिक परिवर्तन भी हों। अंततः शिल्प और विचार एक साथ हो जाते हैं, यह अनिवार्यता है; बशर्ते आप एक तो उपकरण के जानकार हों, दूसरे अपनी वैचारिकताओं के भी अच्छे जानकार हों।*"[17] इस संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए रघुवीर सहाय कहते हैं कि "*अगर आप दोनों चीजों के प्रति सचेत हैं तो पहले आप शिल्प की एक शक्ल दिमाग में लेकर चलेंगे। कविता लिखने के पहले ही आपके दिमाग में एक नक्शा होगा- एक ऐसा नक्शा जिसे आप एक संपूर्ण वस्तु का अंश कह सकते हैं। ......जब हम शिल्प का एक अनुभावन पहले करके चलते हैं तो लिखते समय हमें जाँचते रहना चाहिए कि हम जो बना रहे हैं वह क्या वही बन रहा है जैसा हमने सोचा था? साथ ही साथ दूसरे सिरे से भी यह प्रक्रिया चलती है कि जो हम बनाते जाते हैं वह आपको बताता जाता है कि देखो, यह भी हो सकता है, या यह भी होना चाहिए। एक ओर तो हम सोचकर चलते हैं कि हम ऐसा बनाएंगे, दूसरी ओर जब हम उसको बनाते हैं तो उससे हमको विचार मिलता है कि कुछ और भी हो सकता है। यह शिल्प के साथ रचनाकार का सार्थक रिश्ता है।*"

काव्य-कला के विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए रघुवीर सहाय शिल्प, रचनाकार और वैचारिकी के आपसी रिश्ते को ध्यान में रखते हैं। कविता में चित्रित संसार तक पाठक किस तरह पहुँच सकता है, इसके लिए रचनाकार को बनी बनाई परिपाटी से कोई खास मदद नहीं मिलती है। यह तो रचनाकार पर निर्भर करता है कि वह परिपाटी का कितना गहरा ज्ञान रखता है और अपनी वैचारिकी के अनुरूप अथवा वैचारिकी के साथ शिल्प का कितना सुंदर तालमेल स्थापित कर पाता है। इस प्रकार रघुवीर सहाय परंपरित शिल्प से मुक्ति के प्रयास में वैचारिकी और शिल्प के पारस्परिक संबंध को एक नया आयाम देते हैं जहाँ दोनों एक दूसरे के साथ एकमेक हो जाते हैं। इस काम में भाषा की भी अहम भूमिका होती है। इस संदर्भ में उनका मानना है कि "*जो एक बार व्यक्ति की हैसियत से जीवन में योग दे चुका है, रचना करते समय कवि की हैसियत से वह दुबारा योग देता है- अपनी शक्ति भर, छोटे-छोटे विविध अंशों में दुबारा योग देने में ही उसकी सार्थकता है और यह सार्थकता भी तब है जब वह कला के स्तर पर हो।*"[18] कहने का मतलब यह है कि कवि जब अपनी कविताओं के द्वारा जीवन में दुबारा योग देने के लिए सक्रिय होता है तो सबसे अधिक जागरूकता काव्य-भाषा के स्तर पर दिखाई देनी चाहिए।

रघुवीर सहाय में शिल्प के स्तर पर एक मुक्ति का प्रयास है। इस बात पर पहले चर्चा हो चुकी है।

वे अपनी रचना में शिल्प को लेकर प्रयोगधर्मी हैं। वे हर रचना में नए शिल्प के प्रति सजग रहते हैं। नए शिल्प के प्रति आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है। वे कहते हैं कि “एक कविता में किसी शिल्प को सार्थक करके भाव दुबारा उसी शिल्प में मन नहीं लगता। मैं एक कविता में दूसरी से जीने के साथ एक शिल्प से दूसरे शिल्प में भी जीना चाहता हूँ। एक शिल्पावस्था में अब पहले की तरह बहुत दिन तक मन नहीं रम पाता– मुझे याद है एक ही ढंग में कही कविताएँ मैं लिख चुका हूँ। अब शायद हर रचना का एक अपना शिल्प है जो उसी में प्रतिफलित हो जाया करता है।”[19]

अस्तु, रघुवीर सहाय कला के संदर्भ में सहजता के आग्रही हैं। वे कला के पारंपरिक उपादानों का प्रयोग भाव और विचार के अनुकूल करना चाहते हैं। उनकी ज्यादा कोशिश तो उनसे मुक्ति में है। वे प्रत्येक कविता को एक नए शिल्प में रचना चाहते हैं; और इस तरह रचना चाहते हैं कि शिल्प और वैचारिकी का अंतर समाप्त हो जाए।

संदर्भ :

1. *रघुवीर सहाय का कविकर्म*, सुरेश शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 : 142–143.
2. *दूसरा सप्तक*, *रघुवीर सहाय रचनावली*, भाग–1, सुरेश शर्मा (सं.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण, 2013 : 38.
3. *भेंटवार्ताएँ*, *रघुवीर सहाय रचनावली*, भाग–3, : 413.
4. *बहुवचन*, जुलाई–सितम्बर, 2001 : 27.
5. *रघुवीर सहाय रचनावली*, भाग–1 : 10
6. *दूसरा सप्तक*, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग–1 : 38.
7. *रघुवीर सहाय का कविकर्म*, सुरेश शर्मा : 24
8. *रघुवीर सहाय रचनावली*, भाग–1 : 403
9. वही : 456.
10. *रघुवीर सहाय का कविकर्म*, सुरेश शर्मा : 32.
11. *रघुवीर सहाय रचनावली*, भाग–1 : 89.
12. *रघुवीर सहाय का कविकर्म*, सुरेश शर्मा : 33.
13. *दूसरा सप्तक*, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग–1 : 50.
14. *रघुवीर सहाय रचनावली*, भाग–1 : 158.
15. *रघुवीर सहाय का कवि कर्म*, सुरेश शर्मा : 151.
16. वही : 149.
17. वही : 150.
18. *रघुवीर सहाय की काव्यानुभूति और काव्य–भाषा*, डॉ. अनंत कीर्ति तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1966 : 110.
19. *यथार्थ यथास्थिति नहीं*, रघुवीर सहाय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984 : 30.

❑❑❑

आलेख

जहाँ स्वप्न भी यथार्थ है

❍ चंद्रबिंद सिंह

'चंदू, मैंने सपना देखा' बाबा नागार्जुन की उत्कृष्ट कविताओं में से एक है जो 1976 में लिखी गई थी। यह कविता दिखने में सरल सी लगती है जबकि वैसी है नहीं। यह काव्य शिल्पी नागार्जुन की कला है जो इतनी गंभीर काव्य-वस्तु को भी सरलतम रूप में प्रस्तुत करती है। यही वह रचनात्मक भूमि है जो नागार्जुन को मुक्तिबोध से अलग करती है। मसलन कबीर की तरह नागार्जुन भी एक ऐसा पाठक वर्ग खड़ा करते हैं जो कविता की शास्त्रीय परंपरा से अनभिज्ञ रहकर भी काव्य के रसास्वादन से अछूता नहीं रहता। नागार्जुन कविता को जबरन बुनते नहीं है। ज्यादातर कविताओं में नागार्जुन समाज में घटित होने वाली घटनाओं को ही अपनी कविता का विषय बनाते हैं जिससे एक साधारण पाठक पहले से ही परिचित होता है। कई बार तो पाठक स्वयं भुक्तभोगी होता है। एक पाठक के लिए कविता में अपने आप को या अपने समाज को देखना आकर्षित करता है और शायद नागार्जुन की कविताओं की यह विशेषता ही उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा आधार है। नागार्जुन ऐसा सिर्फ विषय के स्तर पर ही नहीं करते हैं बल्कि भाषा एवं शिल्प के स्तर पर भी इस बात का बखूबी ध्यान रखते हैं। मसलन नागार्जुन लोक की बात लोक की शब्दावली में ही करते हैं। वे कविता करने में हकलाते नहीं, फलतः उनके यहाँ वाग्जाल जैसी कोई चीज नहीं है। नागार्जुन हर एक बात को बेहद स्पष्ट एवं पारदर्शी ढंग से रखते हैं। मैं यह मानता हूँ कि किसी रचनाकार की प्रतिबद्धता की सबसे बड़ी कसौटी काव्य-रूप होती है न कि अंतर्वस्तु, और इस कसौटी पर नागार्जुन सोलहो आने खरे उतरते हैं।

विवेच्य कविता (चंदू, मैंने सपना देखा) पहले पाठ में ही जिस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह है उसका किस्सात्मक स्वरूप। कवि हमारे सामने एक किस्सागो के रूप में आता है जिसकी भारतीय जनमानस में एक लंबी लोकप्रिय परंपरा रही है। किस्सा स्वप्न का है इस नाते यह जरूरी नहीं कि कविता के बंदों और पंक्तियों के विषय में क्रमिक तारतम्य हो जबकि पूरी कविता की अंतर्वस्तु में एक आंतरिक एकसूत्रता व्याप्त है।

कविता का प्रारंभ एक उल्लासकारी वातावरण से होता है। यहाँ यह कहना नहीं पड़ेगा कि कविता की अंतर्वस्तु, इसके ठीक विपरीत है। जाहिर है कि कवि इससे अनभिज्ञ नहीं होगा। परंतु यहाँ सवाल यह खड़ा होता है कि आखिर इतनी गंभीर अंतर्वस्तु के साथ कवि का ट्रीटमेंट इतना क्रीड़ापरक क्यों है? क्या कवि कविता में व्याप्त तनाव को हलका करना चाहता है ? और ऐसा कर कवि कविता की प्रभावोत्पादकता को एक विवेक-परक स्थायित्व देना चाहता है। क्या ऐसा नहीं करने से कविता पाठक में एक संघर्षशील चेतना

जागृत करने के बजाय उसे निराशा और हताशा के प्रवाह में बहा ले जाएगी? और फिर कविता का कोई औचित्य नहीं रह जाएगा। यह बात बहुत दूर तक सही प्रतीत होती है कि संघर्षशील चेतनादायी त्रासदी का स्वरूप सही-सही तभी उभर पाता है जब पूरी रचना में त्रासदी की एकतानता के बजाय, उसमें एक उतार-चढ़ाव हो। ऐसा होने से त्रासदी विडंबना पूर्ण परिस्थितियों की सहज परिणति बन जाती है अन्यथा उसमें एक अनावश्यक कृत्रिमता आ जाने का खतरा बना रहता है। कृषक जीवन की त्रासदी कहलाने वाला उपन्यास 'गोदान' में भी प्रेमचंद ऐसा ही करते हैं। उक्त उपन्यास में कथा नायक होरी अपने जीवन-संग्राम में बार-बार चारों खाने चित होता है और फिर एक लंबी कराह के बाद तन कर खड़ा हो जाता है। परिणामस्वरूप होरी की हार न मानने वाली अदम्य जिजीविषा और उसके चारों तरफ विद्यमान क्रूर प्रतिसंसार के घात प्रतिघात से उत्पन्न कथा-बोध जहाँ एक तरफ त्रासदी के स्वरूप और स्पष्ट करता चला जाता है वहीं दूसरी तरफ उसकी धार भी और पैनी होती चली जाती है। पर ध्यान रहे, अंत तक निष्कर्ष अबूझ ही बना रहता है।

कविता के दूसरे बंद की पहली पंक्ति कवि की आकांक्षा और उसके सौंदर्यमूलक सपने की तेजाबी पृष्ठभूमि को एक कौंध की तरह स्पष्ट कर देती है।

चंदू, मैंने सपना देखा
कल परसों ही छूट रहे हो।

यहाँ यह कहना नहीं पड़ेगा कि न तो काव्य-नायक बाहर है और ना ही चंदू। दोनों जेल की काल कोठरी में बंद हैं। जेल की सलाखों में बंद आँखे सपनों के सिवाय और देख भी क्या सकती हैं? पर यह सपना कोई साधारण सपना नहीं है। यह सपना महामुक्ति के ऐतिहासिक संघर्ष में लड़खड़ाता, पर अग्रसर होता लघु मानव की अदम्य जिजीविषा है।

नागार्जुन का काव्य संघर्ष तथाकथित क्रांतिकारी कवियों की तरह उद्देश्यहीन संघर्ष नहीं था। इसका खुलासा करते हुए वे खुद एक जगह कहते हैं :

प्रतिबद्ध हूँ
संबंद्ध हूँ
आबद्ध हूँ
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज के अनुपल प्रगति के निमित्त -
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ...
अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया-धसान' के खिलाफ
अंध-बधिर 'व्यक्तियों' को सही राह बतलाने के लिए...
अपने आपको भी 'व्यामोह' से बारंबार उबारने की खातिर...
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ

यह है जन कवि नागार्जुन के काव्य कर्म का मर्म। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वे अपने आप तक से समझौता करने को तैयार नहीं हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के क्रम में कवि सबसे पहले खुद को डिक्लास कर अपने आप को वास्तविक परिवेश का एक सतर्क भोक्ता व द्रष्टा बनाता है। यह कविता इस बात का प्रमाण है कि कवि का अर्धचेतन

मन भी उस काव्य-बोध से संपन्न है जो वास्तविक जीवन-बोध का पर्याय है। सपने में भी कवि की चिंता कम नहीं होती है। कवि सपने में देखता है कि उसका जुझारू कार्यकर्ता चंदू नया कैलेंडर लाया है। नया कैलेंडर यानी नवीन समाज-व्यवस्था की रूपरेखा और भावी संघर्ष की रणनीति। यहाँ 'नया' शब्द लक्ष्य करने योग्य है। यह बदलते समाज और उसके परिणामस्वरूप बदलती विचारधारा के द्वंद्वात्मक संबंध को दर्शाता है। विकासोन्मुख परिवर्तन का परिचायक है। ऐसे भी विचारधारा के स्तर पर नागार्जुन किसी जड़ता को स्वीकार नहीं करते हैं, वे वैसे तथाकथित रचनाकार नहीं हैं जो सिर्फ सिद्धांतों की माला जपते हैं। नागार्जुन लोक में रचे बसे एक संघर्षशील योद्धा हैं, इस नाते उनके जीवन-संघर्ष से निर्मित यथार्थ बोध और उनकी विचारधारा में एक गत्यात्मक संबंध है। यह गत्यात्मकता उन्हें तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी थकने नहीं देती है। जहाँ इन प्रतिकूल परिस्थितियों के मकड़जाल में फंसकर दम तोड़ देना ही एक कवि की नियति हो सकती थी, वहाँ नागार्जुन उससे एक नई ऊर्जा प्राप्त करते हैं। उनका कवि मन सामाजिक दायित्व-बोध से ऊर्जा ग्रहण करता है और काव्य-बोध सामाजिक कर्म के लिए प्रेरित करता है। यही वह बात है जो नागार्जुन को ब्रह्मराक्षस बनने से बचाती है।

लोक कवि नागार्जुन की दृष्टि सदा गाँवों-देहातों पर लगी रहती थी। भले ही वे पटना में हों या दिल्ली में। वे गंवई संस्कृति से उतनी ही गहराई से जुड़े हुए थे जितनी गहराई से फणीश्वरनाथ रेणु। जनपदीय संस्कृति के रूप, रस और गंध उनकी संपूर्ण रचनाओं में घुला हुआ है। नागार्जुन अच्छी तरह जानते थे कि जनपदीय संगीत (जनपद में व्याप्त संगीत) उनकी रचनाओं के मूल प्राण हैं तभी तो वे एक जगह लिखते हैं :

सोते ही बिता देता हूँ शत-शत प्रभात
छूट सा गया है जनपदों का स्पर्श
हाय रे आँचलिक कथाकार।

उपर्युक्त स्वीकारोक्ति देखने में सामान्य सी लग सकती है पर सच यह है कि जनपदीय स्पर्श पर ही नागार्जुन का सबकुछ निर्भर करता है। अपने जनपद से विलगाव का यह संकट कवि के अस्तित्व का संकट है। नागार्जुन की इस विलगाव से उत्पन्न पीड़ा को सहज ही महसूस किया जा सकता है। 'भोजपुर' कविता में उनका यह अलगाव बोध और मुखर रूप में अभिव्यक्त हुआ है:

मुन्ना, मुझको
पटना दिल्ली मत जाने दो
भूमि पुत्र के संग्रामी तेवर लिखने दो
पुलिस दमन का स्वाद मुझे भी चखने दो
मुन्ना, मुझे पास आने दो
पटना दिल्ली मत जाने दो।

यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि आखिर कवि शहर से इतना आतंकित क्यों है? क्या शहर उसके भीतर बैठे प्रगतिशील काव्य-बोध को कुंद कर देगा? और जनवादी कवि का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। उत्तर पाने के क्रम में मेरे गुरुदेव प्रख्यात कवि वेणुगोपाल की इस कविता को देखा जा सकता है:

ये लोग दिल्ली जा रहे हैं
क्या यह वहाँ भी जाएंगे?

जहाँ दिल्ली जाती है।

मुझे लगता है कि एक साधारण पाठक भी इस बात से भलीभाँति अवगत होगा कि दिल्ली कहाँ जाती है? और शायद इसी कारण नागार्जुन दिल्ली-पटना जाने से बचना चाहते हैं। वे भलीभाँति जानते थे कि वातानुकूलित कमरे में बैठकर आम आदमी की बात करना सरासर बेमानी है।

नागार्जुन की मूल चिंता का विषय गाँव-देहात की शोषित पीड़ित जनता थी। ऐसे में यह स्वाभाविक है कि वहाँ की अच्छी खबरें सुन जनता के कवि की आँखों में एक चमक आ जाएगी। कवि के इस गंवई मिजाज को इन पंक्तियों से सहज ही समझा जा सकता है :

चंदू, मैंने सपना देखा,
अमुआ से पटना आए हो।
चंदू, मैंने सपना देखा,
मेरे लिए शहद लाए हो।

गाँव-जवार की अच्छी खबरें बाबा के लिए शहद से कम मीठी नहीं होती हैं। इस मिठास को अनुभूत कर उनका देहाती मन गदगद हो जाता है।

नागार्जुन की कविता प्रयोगवादी कविताओं (तथाकथित प्रयोगवादी कविताएँ) की तरह व्यक्ति की कुंठा, हताशा और निराशा की कविता नहीं है। ऐसा संभव भी नहीं था क्योंकि उनको शोषित-पीड़ित जनता के मुक्ति-संघर्ष और उसके भावी भविष्य में जबर्दस्त आस्था थी। उनकी इस अटूट आस्था को सिर्फ उनकी कविताओं में ही नहीं बल्कि उनके संपूर्ण साहित्य में देखा जा सकता है। इस बात को अगर सौंदर्यशास्त्रीय भाषा में कहा जाए, तो कहा जा सकता है कि नागार्जुन आस्था के सौंदर्य के कवि हैं। उनका आस्थावान कार्यकर्ता चंदू जो एक सामाजिक चिकित्सक है, जेल की चहारदीवारी से निकलते ही एक नवीन ऊर्जा और आस्था से अनुप्राणित हो अपाहिज बना दी गई मानवता के उपचार में पूरी तत्परता के साथ जुट जाता है। वह हाशिए पर फेंक दी गई जनता में जुझारू चेतना जागृत करने में अपना सुयश समझता है। सच तो यह है कि इससे बड़ा सुयश और हो भी क्या सकता है कि देश की समस्त शोषित पीड़ित जनता उसे प्रतिबद्ध और काबिल कार्यकर्ता के रूप में जानती है? उसके कर्मों का मूल्य समझती है।

कविता का अंतिम बंद उस पुलिसिया आतंक को बताता है जो गाहे-बगाहे लोक में उभर रहे जनाक्रोश को कठोरता से कुचल देने की कोशिश करता है। प्रतिबद्ध सामाजिक कार्यकर्ताओं को उग्रवादी करार दे उन्हें अनेक प्रकार से प्रताड़ित करता है। इस मायने में यह कविता एक ऐसी भयावह खबर की कविता है जो अब रोजमर्रा की पत्र-पत्रिकाओं की खबर होती है। परंतु ध्यान रहे कि वर्ण्य कविता में इस खबर का स्वरूप खबरी पत्रों के स्वरूप से भिन्न है। कवि इस विडंबना पूर्ण परिस्थिति की गंभीरता को समग्रता में उभारने के लिए अग्र-प्रस्तुतीकरण की शैली अपनाता है। वह एक ऐसी पृष्ठभूमि का सृजन करता है जिससे यह साधारण सी बात भी असाधारण हो जाती है। पुलिस का दमनकारी चेहरा एकबारगी ही स्पष्ट हो जाता है तथा पाठक अचानक ही एक तिलमिला देने वाली वास्तविकता से परिचित होता है। अगर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में कहें तो पूरी घटना में एक खास किस्म का प्रसंग गर्भत्व आ जाता है। यह काव्य-शिल्पी नागार्जुन की कला ही है जो इतने गंभीर और त्रासद-पूर्ण प्रसंग को भी एक दो पंक्तियों में ही प्रभावी ढंग से रख देती है वर्ना कई पन्ने रंगने पड़ जाते।

इतना सब होने के बावजूद भी नागार्जुन का सपना (आस्था) सपने में भी नहीं टूटता। वे जानते हैं कि

सपने के टूटते ही सब कुछ अकारथ हो जाएगा। क्रांतिकारी कवि अवतार सिंह पाश भी इसी अदम्य जिजीविषा को रेखांकित करते हुए अपनी कविता 'सबसे खतरनाक' में लिखते हैं:

सबसे खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना।

यह आस्था, यह सपना और यह जिजीविषा ही तो कवि की कविता का प्राण होता है। यदि ऐसा नहीं हो तो पाठक में संघर्षशील चेतना के स्फूरण की बात तो दूर, हताशा और निराशा की ऐसी बाढ़ आएगी जिसमें कविता, कवि और पाठक किसी का ठिकाना नहीं रह जाएगा। इस संदर्भ में प्रगतिशील साहित्य की इस विशेषता को रेखांकित करते हुए प्रो. नामवर सिंह ने भी एक जगह लिखा है 'प्रगतिशील कवि की निराशा में भी आशा की दीप्ति होती है।' बात सच भी है, अन्यथा एक जनकवि को विडंबनापूर्ण प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समतामूलक समाज व्यवस्था का सपना साकार होता दिखाई नहीं देता। यहाँ कवि क्रूर प्रतिसंसार को अपनी नियति मान कर उसका रोना नहीं रोता। कवि उससे जूझता है और जूझते-जूझते वह इस क्रम में संग्रामी तेवर अख्तियार कर लेता है क्योंकि इस जीवन-संग्राम के इम्तिहान में उसका सब कुछ दाव पर लगा हुआ है।

इस कविता में कुछ खास बातें और भी हैं जो हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं। रूप की दृष्टि से भी यह कविता नागार्जुन की अन्य कविताओं से बिल्कुल भिन्न है। (ऐसे भी नागार्जुन की कविता की अंतर्वस्तु की तरह रूप में भी लगभग एकरसता नहीं है। वे कविता की अंतर्वस्तु के अनुरूप काव्य-रूप गढ़ते हैं।) प्रस्तुत कविता में नागार्जुन एक खास शैली का प्रयोग करते दिखते हैं। हम चाहे तो इसे स्वप्न शैली कह सकते हैं। नागार्जुन को छोड़ शायद ही किसी कवि ने इतनी गंभीर अंतर्वस्तु को इस शैली में, इतनी सुगमतापूर्वक अभिव्यक्त किया हो। इस बात में भी दो राय नहीं हो सकती है कि यह शैली (काव्य रूप) ही वह वस्तु है जो कविता के सौंदर्य को अंत तक अक्षुण्ण बनाए रखती है। उक्त शैली की अनुपस्थिति में काव्य-सौंदर्य की बात तो दूर, कविता में एक ऐसा बिखराव संभावित था जिसके बाद कविता को कविता कह पाना मुश्किल हो जाता। परंतु प्रस्तुत कविता में कवि कुशलतापूर्वक सिर्फ 'चंदू मैंने सपना देखा' की आवृत्ति कर इस खतरे से उबर जाता है। 'चंदू, मैंने सपना देखा' एक ऐसा टेक है जो प्रस्तुत कविता की अनिवार्य शर्त बन गई है। काव्य-शिल्पी नागार्जुन की इस कलात्मकता को देखकर यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नागार्जुन सिर्फ कविता करते नहीं बल्कि गढ़ते भी हैं।

❑❑❑

आलेख

गीतिकाव्य

❍ अरविन्द कुमार

संवेदनशील एवं चिन्तनशील प्राणी होने के कारण मानव अपने हृदयगत अथवा मनोगत भावों और अनुभूतियों को वाणी के माध्यम से अनेक रूपों में व्यक्त करता रहा है। प्रकृति के अनन्त नैसर्गिक सौन्दर्य पर रीझे हुए मानव के मुख से सहज ही गान के स्वर फूट पड़े होंगे। आदिमानव जब शब्द या भाषा का निर्माण नहीं कर पाया था, तब भी वह अपनी ध्वनि-भंगी या ध्वनि-विकार से अपने भावों को व्यक्त करता था। इस ध्वनि-भंगी का अति प्राचीन नाम 'स्तोभ' था। विश्व भर में 'स्तोभ' की ध्वनि समान रूप से अहो, हो, हाउ, ओहा, हे, ल, य, हाँ, हुम इत्यादि है। शब्दों के अभाव में पहले पहल इन्हीं स्तोभों में मानव का गान जगत में प्रतिध्वनित हुआ।[1] अत: स्पष्ट है कि जब मानव शब्द का निर्माण नहीं कर पाया था, तब भी उसके हृदय के भाव स्वरों में गूँज उठते थे। यही स्वर शब्दों के माध्यम से मूर्त्त हुआ एवं यही मूर्त्त भाव गीतों के प्रादुर्भाव का कारक बना।

गीतिकाव्य का सम्बन्ध हृदय से है। अत: इसका अन्तरंग अथवा वस्तुतत्व हृदय के अनुरूप ही कोमल, सरस और भावपूर्ण होना चाहिए। भावना की सुकुमारता के साथ ही भाषा भी सरल, मधुर और व्यंजक होनी चाहिए। इसका प्रकरण सुन्दर, मनोहर, संक्षिप्त होने पर ही प्रभावोत्पादक बनता है। इसमें कल्पना का नवीन और उन्मुक्त होना भी आवश्यक है। भावों की अभिव्यक्ति तीव्रतम होनी चाहिए, जिससे इसका प्रभाव अधिक से अधिक पड़े। साथ ही भाव विच्छिन्न और अस्पष्ट न हो। सुकुमारता की रक्षा के लिए संगीत का प्राधान्य तथा कोमल रसों का समावेश होना अत्यन्त आवश्यक है।[2] इसके काव्य को विद्वानों ने निम्न रूप से परिभाषित किया है-

महादेवी वर्मा के अनुसार- "*सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।*"[3]

डॉ. कामेश्वर शर्मा के कथनानुसार- "*वैयक्तिक भावावेश और तीव्र अनुभूतियों से प्रेरित भावस्निग्ध हृदय, जब भाषा-धुन पर निजी रागात्मकता की प्रत्यंचा के सहारे सुर-ताल-लय से युक्त स्वर बाण का संधान करता है, तब गीति या प्रगीति का जन्म होता है।*"[4]

कृष्णानारायण प्रसाद 'मागध' के अनुसार- "*संवेदना एकान्तता का समाहित रूप में मार्मिक प्रभाव डालनेवाला, परिस्थिति विशेष में वैयक्तिक अनुभूतियों का पूर्ण किन्तु संक्षिप्त, भावावेशमय, सुकर और लयात्मक चित्रण ही गीतिकाव्य है।*"[5]

राजनाथ शर्मा के अनुसार- "*कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति जब मधुर शब्दों द्वारा स्वाभाविक*

गीतिमय और गेय स्वर-लहरी में तीव्रता के साथ प्रकट होती है, तो उसे 'गीति' कहा जाता है।"[6]

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर गीतिकाव्य को इस तरह से व्यक्त किया जा सकता है- "*वह संवेदनात्मक रसात्मक काव्य जिसमें संगीतात्मकता या लयात्मकता सहज रूप से विराजमान हो, गीतिकाव्य है।"*

प्राचीन काल से ही गीति-काव्य की परम्परा दिखाई पड़ती है। यह परम्परा वैदिक और लौकिक गीति से चलकर वर्त्तमान में लोकगीत और साहित्यिक गीत के रूप में प्रचलित है। लोकगीत हमारे जीवन विकास का इतिहास है। इन गीतों में जीवन के सुख-दु:ख, मिलन-विरह, उतार-चढ़ाव की भावनाएँ सहज रूप से व्यक्त हुई है। सामाजिक स्थिति के क्षण-क्षण के भाव इनमें बंधे हैं। इसमें सरल अनुभूति और भावों की गहराई है। इसका जन्म बुद्धि से न होकर हृदय से हुआ है। ये तर्क पर नहीं, वरन् भावना पर आधारित है। इसमें भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है। यथा-

सोनरा नहिये गढ़लक गहना हमर गे,
करै छै रगड़ गे ना।
कहलियै गढ़ि दै डरकस काड़ा,
नथिया बुलकी ऐरिंग छाड़ा,
सोनरा गढ़ियै ल' लौ कँगना हमर गे
करै छै रगड़ गे ना।
कहलियै गढ़ि दै चन्द्रहार
हँसुली माकड़ी नकसादार
सोनरा गढ़ियै ल' लै टिकवा हमर गे
करै छै रगड़ गे ना।
देखु सोनरा के चतुराई,
पहिने लए लेलक गढ़वाइ
सोनरा भागि पड़ैलै दरभंगा सहर गे
करै छै रगड़ गे ना।

इस गीत में नायिका के भाव सहज रूप से प्रस्फुटित है। निम्न गीत में सीता की विदाई के समय का कारुणिक भाव उपस्थित हुआ है-

बड़ रे जतन हम सीता बेटी पोसलीं, सेहो रघुवंसी नेने जाए।
मिलि लिय मिलि लिय सखी हे बहिनिया, अब सीता जैती ससुरारि।।
कथि केर डोलिया कैसन ओहरिया, लागी गेल बतिसो कहार।।
चाननक डोलिया सबुज रंग ओहरिया, लागि गेल बतियो कहार।।
आगु आगु रघुबर पाछु पाछु डोलिया, ताके पीछे लछुमन भाई।

साहित्यिक गीति का प्रारंभिक रूप वेदों में ही दृष्टिगोचर होता है। वेदकालीन आर्य प्रकृति के अधिक निकट थे। अस्तु, वेदों में मुक्त प्रकृति-प्रेम की अभिव्यक्ति गीतात्मक ही है। संहिताओं में प्राप्त होने वाले गीतों में हर्ष, उल्लास, विषाद इत्यादि भावों की सामूहिक अभिव्यक्ति मिलती है। सामवेद तो गीतों का ही संग्रह है। वाल्मीकीय रामायण में गेयता के तत्त्व मिलते हैं। कहा जाता है कि लव-कुश इसका गान किया

करते थे। शास्त्रीय दृष्टि से संस्कृत साहित्य में कालिदास का 'मेघदूत' ही ऐसा प्रथम काव्य है, जिसे गीति-काव्य की संज्ञा दी गई है। कालिदास ने अपने नाटकों में भी गेय काव्य को प्रधानता दी है।

बौद्ध साहित्य में थेरी-गाथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में गाथा का अर्थ 'गीत' ही है। जैन-साहित्य में भी गेय शैली में काव्य प्राप्त होते हैं। गीति-काव्य को महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय अपभ्रंश के सिद्ध कवियों को है। सिद्ध कवियों की गीतियाँ 'चर्चा पद' के नाम से प्रसिद्ध है। इन चर्चा पदों में वैदिक और बौद्ध साहित्य की अपेक्षा गीतितत्व अधिक है। सिद्ध कवियों की गीति-शैली ही संस्कृत और अपभ्रंश की दो धाराओं से आम हिन्दी में गीतिकाव्य का प्रकटीकरण होता है। प्रथम शैली भागवतकार, क्षेमेन्द्र, जयदेव आदि से होकर विद्यापति आदि को प्रभावित करती है और दूसरी शैली सिद्धों, नाथों से होकर संत कवियों में प्रस्फुटित होती है।

वैष्णव भक्त कवियों की परम्परा में कृष्णकाव्य और रामकाव्य में गीतों का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है। अष्टछाप के कवियों के साथ-साथ मीराबाई, तुलसीदास इत्यादि ने भक्ति गेय-काव्य की परम्परा को समृद्ध किया। कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि संत कवियों ने लोकचेतना की अभिव्यक्ति अपने गीतों के माध्यम से किया है।

आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होते हुए यह परम्परा छायावादी, प्रगतिवाद, नवगीत तक की यात्रा करती हुई दिखाई पड़ती है। इस यात्रा में विभिन्न वादों के समानान्तर अनेक कवियों ने गीतों को प्रसिद्धि दिलाई, जिनमें प्रमुख हैं- बच्चन, दिनकर, नेपाली, नरेन्द्र, आर.सी. प्रसाद सिंह, नीरज, रामअवतार त्यागी, बालस्वरूप राही, भवानी प्रसाद मिश्र इत्यादि।

गीतिकाव्य की परम्परा अतिप्राचीन है, अर्थात् वेदों से भी पहले की। यह परम्परा लोकगीत एवं साहित्यिक गीत के रूप में समानान्तर विकसित हुई है। वर्तमान में भी गीति परम्परा सतत् विकासोन्मुख है। काव्य के क्षेत्र में गीतिकाव्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। असभ्य, अशिक्षित एवं अविकसित मानव के कण्ठ से सर्वप्रथम निसर्ग रचना गेय ही था। यह काव्य मानव की अनुभूति के बाद अभिव्यक्त हुआ था; इसलिए इसमें अनुभूति की गहराई पाई जाती है। इसमें अभिव्यक्ति की सहजता का एक शाश्वत सौन्दर्य भी झलकता है जिसका अन्य काव्य में अभाव रहता है।

पार नहीं, मझधार नहीं
झकझोर रही पुरवैया
जैसे कूल-किनारा छूटा
लगी डूबने नैया।

- आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

गीतिकाव्य में रचनाकार अपनी अनुभूतियों को निधि के रूप में व्यक्त करता है। कुछ अनुभूतियाँ कालचक्र के अनुसार शनैः शनैः धुँधली पड़ती जाती हैं पर कुछ सबल वेगमय और घनीभूत होकर जीवन में प्रस्फुटित होती रहती हैं। ऐसी गहन अनुभूतियाँ ही गीतिकाव्य का सहज सृजन करती हैं। अतः अन्य काव्य की अपेक्षा गीतिकाव्य में गहन अनुभूतियाँ अन्तर्निहित होती हैं-

कखन हरब दुख मोर, हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब, सुख सपनहु नहि भेल हे, भोलेनाथ
आछत चानन आउर गंगाजल, बेलपत्र तोहि देब, हे भोलानाथ।

यहि भव-सागर थाह कतहु नहि, भैरब घरू करुआरि, हे भोलेनाथ
भन विद्यापति मोर भोलनाथ गति, देहु अभय वर मोहि, हे भोलेनाथ।

अनुभूति की पूर्णता गीतिकाव्य में प्रभावकारी पक्ष है, जो नितान्त स्वाभाविक और तीव्र है। इसमें नाद का आरोहात्मक-अवरोहात्मक तादात्म्य इतना गहन और मार्मिक है कि अनुभूति की पूर्णता के बिना उनका निष्क्रमण संभव ही नहीं है। गीतिकाव्य के शब्द एक ओर जहाँ अर्थ की भावभूमि पर पाठक या श्रोता को ले जाता है, वहाँ नाद के द्वारा श्रव्य मूर्त्ति-विधान के दृगदर्शन भी कराते हैं।

डारि गयो मनमोहन फाँसी।
अंबुवा की डाली कोयल इक बोली, मेरो मरण अरू जग केरी हाँसी।
बिरह की मारी बन-बन डोलूँ, प्रान तजूँ करवत ल्यूँ कासी।
'मीरा' के प्रभु हरि अविनाशी, तुम मेरे ठाकुर, मैं तेरी दासी।

अनुभूति की संक्षिप्तता गीतिकाव्य का प्रमुख तत्त्व है। इसमें थोड़े ही शब्दों में गहनतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। भाषा की सरलता, कोमलता और सरसता इस काव्य के लिए अनिवार्य है। भाषा वह माध्यम है, जिसके द्वारा अभिव्यक्तियों का संक्रमण होता है। भाषा के द्वारा मन की भावनाओं के सौन्दर्य का स्वरूप ज्ञात होता है।

विरही मन कैसे जी पाये
जीवन में जब प्यार नहीं है
अरमानों के फूल पिरोये,
बिखर गए जो स्वप्न सँजोये।
वह जीवन पतझर ही तो है,
जिसमें सदा बहार नहीं है।
-वेद प्रकाश आर्य

गीतिकाव्य में शब्द-चयन लयानुकूल होता है। लय की रक्षा हेतु शब्दों को अपने अनुकूल बना लिया जाता है। वीणा के लिए 'बीन, अश्रु के लिए 'आँसू' का प्रयोग इसी प्रकार का है। लयात्मक मृदुता तो अधिकांश स्थलों पर दर्शनीय है। इसमें संगीतात्मक शब्दों और संकेतों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। री, अरी, रे, एरी इत्यादि संगीतोपयोगी सांकेतिक शब्दावली का प्रयोग भी इसमें संगीतात्मकता एवं लयात्मकता का प्रमाण है। अन्य काव्य में संगीतात्मकता का अभाव रहता है।

बीती विभावरी जाग री
....
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री।
- जयशंकर प्रसाद

गीतिकाव्य में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन शब्द शक्तियों का भी प्रयोग अन्य काव्य की अपेक्षा अधिक होता है। विशेषकर छायावादी गीतिकाव्य में इसके दर्शन होते हैं। इसमें नादात्मक-ध्वन्यात्मक शब्दावली का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ता है-

कण-कण कर कंकण प्रिय

किण-किण रव किंकणी
रणन-रणन नुपुर, उर लाज
लौट रंकिणी,
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार।
-निराला

गीतिकाव्य में रस प्राण है। इसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति होती है। इस काव्य में भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है। इसमें पिंगलशास्त्र की दृष्टि में यति भंगदोष की स्थिति हो सकती है, परंतु लयात्मक प्रवाह में कोई कमी नहीं पाई जाती है। जिस प्रकार हरे जंगलों में जैसे पंछी उन्मुक्त होकर गाते हैं, उसी प्रकार गीतिकाव्य स्वाभाविक रीति से हृदय से फुटकर निकलते हैं। इसमें भावों की खींचतान नहीं रहती।

अत: गेय काव्य में आत्माभिव्यक्ति की सहजता, संगीतात्मकता, अनुभूति की संक्षिप्तता एवं पूर्णता तथा भाषा की सहजता के कारण काव्य में इसका स्थान उच्च है, इसमें संदेह नहीं।

संदर्भ :

1. सिंह, डॉ. ठाकुर जयदेव, *भारतीय संगीत का इतिहास,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2010 : 3.
2. शर्मा राजनाथ, *साहित्यिक निबन्ध,* श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 2020 : 676.
3. संगीत (मीरा संगीत अंक), संगीत कार्यालय, हाथरस, जनवरी-फरवरी, 1978 : 14
4. शर्मा, कामेश्वर, *बोध और व्याख्या,* नोवेल्टी एंड कंपनी, पटना, 1962 : 273.
5. 'मागध', कृष्ण नारायण प्रसाद, *हिंदी साहित्य : युग और धारा,* भारती भवन, पटना, 1965 : 533.
6. शर्मा, राजनाथ, *साहित्यिक निबन्ध* : 680

❑❑❑

आलेख

राहुल सांकृत्यायन का वैचारिक चिंतन

❍ रानी सिंह

इतिहास, दर्शन, समाज तथा साहित्य के महापंडित राहुल सांकृत्यायन पहले आर्यसमाजी हुए तत्पश्चात बौद्ध और अंत में मार्क्सवादी हुए। यही कारण है कि उनका वैचारिक चिंतन इन दर्शनों के समाहार तथा उनकी घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के कारण अंततः वैश्विक मानवतावादी चिंतन दृष्टि का रूप ग्रहण करती है। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं- 'बाइसवीं सदी' (1923), 'साहित्य निबंधावली' (1949), 'जीने के लिए' (1939), 'सिंह सेनापति' (1944, उपन्यास), 'जय यौधेय' (1944, उपन्यास), 'मधुर स्वप्न' (1949, उपन्यास), 'वोल्गा से गंगा' (1942, कहानी), 'देशरक्षक' (1942, नाटक), 'नई दुनिया' (1942, नाटक), 'मेरी जीवन यात्रा' (भाग-1, 1940; भाग-2, 1944; भाग-3, 1951; भाग-4, 1956; भाग-5, 1956; आत्मकथा), 'मेरी यूरोप यात्रा' (1932, यात्रा विवरण), 'मेरी तिब्बत यात्रा' (1934, यात्रा विवरण), 'साम्यवाद ही क्यों' (1934), 'दिमागी गुलामी' (1937), 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' (1944), 'मानव-समाज' (1941), 'मध्य एशिया का इतिहास' (भाग-1, 1951-52; भाग-2, 1951-52), 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' (1961, भाग-16, सम्पादन), 'हिन्दी काव्यधारा' (1944), 'तुलसी रामायण' (1957), 'पालि साहित्य का इतिहास' (1961) तथा 'हिन्दी की कहानियाँ और गीत' (1950) आदि।

राहुल सांकृत्यायन पर आर्य समाज, बौद्ध दर्शन तथा मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव पड़ा, परिणामस्वरूप वैचारिक द्वन्द्व हमें उनकी चिंतन दृष्टि में देखने को मिलता है। उन्होंने गहन अध्ययन, अन्वेषण तथा विश्लेषण के द्वारा मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन को व्यवस्थित आधार प्रदान करते हुए महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दिए। उनका मानना था कि साहित्य जनता के लिए है। अतः साहित्य का सृजन भी सहज और सरल भाषा में अर्थात आम जन की भाषा में ही होना चाहिए। वे कठिन भाषा के प्रेत नहीं थे। उन्होंने लिखा है- "*पोथी लिखते बखत मेरे दिल में हमेशा इस बात का ख्याल रहा है कि जिन्होंने प्राइमरी तक हिन्दी पढ़ी है। वह समझ सके*"।[1] स्पष्ट है कि राहुल सांकृत्यायन ने साहित्य का सृजन सरल तथा सहज भाषा में करने पर जोर दिया। अपनी कृतियों के माध्यम से प्रकांड पांडित्य का प्रदर्शन करना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्होंने ऐसी भाषा में साहित्य का सृजन किया कि कम पढ़े-लिखे या यों कहें कि जिसने प्राइमरी तक भी हिन्दी पढ़ी हो वह भी उनके साहित्य को समझ सके। राहुल सांकृत्यायन ने देश की उन्नति के लिए विज्ञान का सम्यक ज्ञान एवं अनुसंधान आवश्यक माना है। उन्होंने दुनिया के सम्पूर्ण वैभव को साइंस का वरदान माना। अपने निबंध संग्रह 'साहित्यिक निबंधावली' में उनका विचार है- "*सच तो यह है कि हमारे देश की दरिद्रता दूर करने का एक ही रास्ता है जिसे कि साइंस हमें बतलाता है। इसलिए आज हिन्दी साहित्य को अपने देश*

को साइंस के प्रशस्त पथ पर चलने के लिये साधन बनकर आगे आना है।"[2] इस उद्धरण से राहुल सांकृत्यायन का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे देश की उन्नति के लिए साहित्य और विज्ञान के समन्वय पर जोर देते थे। उनका विचार था कि हिन्दी साहित्य को साधन बनकर विज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए। उनकी दृढ़ धारणा है कि साइंस संबंधी अनुसंधानों का विवेचन हिन्दी पत्रिकाओं में होना चाहिए। वे हिन्दी में ऐसी पत्रिका की आवश्यकता महसूस करते थे जिसमें साइंस संबंधी लेखों को छापा जाए। उन्होंने लिखा है- "*अंग्रेजी भाषा में लिखने पर हम एक विदेशी पढ़ने वाले के लिए लिखते हैं और हिन्दी में लिखने का ख्याल छोड़ देते हैं। इसलिए मैं तो समझता हूँ कि अनुसंधान पत्रिकाओं को हिन्दी में निकालना चाहिये। इसी तरह बंगला आदि प्रांतों में गवेषणा-पत्र वहाँ की भाषा में हो। यदि बंगला, पंजाबी, गुजराती और दक्षिण की भी भाषाएँ अपनी अनुसंधान पत्रिकाओं को अपनी भाषाओं और नागरी अक्षरों में निकालने लगे, तो इससे दूसरे भाषा भाषी बहुत लाभ उठा सकते। यदि ऐसा ना भी हो सके, तो भी हिन्दी में ऐसी अनुसंधान पत्रिका तो जरूर होनी चाहिए, जिसमें पृथक-पृथक या अनेक साइंस संबंधी ऐसे महत्त्वपूर्ण लेखों को छापा जाय जो कि दूसरी भाषाओं की पत्रिकाओं में निकले हो।"*[3] स्पष्ट है कि राहुल सांकृत्यायन वर्तमान समय में देश की उन्नति में साइंस की भूमिका से भली-भांति अवगत थे। वे जानते थे कि देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिए विज्ञान के महत्वपूर्ण योगदानों का प्रयोग करना होगा। वे साइंस की उपलब्धियों से भारतीयों को अवगत कराना चाहते थे। यही कारण है कि साइंस के महत्त्वपूर्ण लेखों को उन्होंने भारत की प्रांतीय भाषाओं तथा हिन्दी भाषा में छापने पर जोर दिया।

उन्होंने हिन्दी के काव्य-साहित्य को समृद्ध बतलाया। उनका विचार है कि संस्कृत तथा प्राकृत काव्य निधियों के हम उत्तराधिकारी हैं। हिन्दी के साहित्यकारों को विदेशों में जाकर विदेशी जनजीवन से परिचित होकर उसका चित्रण करने की सलाह दी, जिससे विदेशों में रहने वाले तरुण भी हिन्दी के आधुनिक साहित्य से परिचित हों और हिन्दी में रचना के लिए प्रेरित भी हो। वे हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के योगदान की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे। नाट्यकला की उन्नति के लिए उन्होंने रंगमंच का प्रसार अत्यावश्यक माना। नाट्यकला के लिए रचनाकारों और नाटककारों के निकटतम संबंध को आवश्यक मानते हुए लिखा है- "*हमारी नाट्य कला की अभिवृद्धि के लिए रचनाकारों और नाटककारों का निकटतम संबंध अत्यावश्यक है। बिना अभिनय कला के साक्षात परिचय के नाटक नहीं लिखा जा सकता। चाहे कविता और उपन्यास शायद इस तरह के संबंध के बिना लिखा भी जाय।"*[4] अत: राहुल सांकृत्यायन ने नाट्य रचना के लिए वास्तविक दृश्यगत रंगमंचित अनुभव पर जोर दिया है। यही कारण है कि उन्होंने रचनाकारों और नाटककारों के निकटतम संबंध पर बल दिया है। उनका मानना था कि कविता और उपन्यास बिना दृश्यगत अनुभव के लिखे जा सकते हैं, परंतु नाटक बिना अभिनय कला की जानकारी के नहीं लिखे जा सकते।

राहुल सांकृत्यायन ने साहित्य की उन्नति के लिए समालोचना को आवश्यक साधन माना, कारण कि समालोचना साहित्य के गुण दोष का विश्लेषण कर सीखने का मौका देती है और साथ ही पाठकों में साहित्य को पढ़ने की रुचि भी पैदा करती है। समालोचक के उत्तरदायित्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है- "*समालोचक का काम केवल दोष को ही दिखलाना नहीं है बल्कि गुणों को भी बतलाना है और दोष को दिखलाते वक्त भी सहृदयता को नहीं छोड़ना है।"*[5] उनके कहने का आशय है कि समालोचक का कार्य साहित्य के गुण एवं दोष का विश्लेषण कर विवेचन करना है और साथ ही दोष का विवेचन करते समय समालोचक को सहृदयता भी बनाए रखनी चाहिए।

राहुल सांकृत्यायन की इच्छा थी कि विश्व साहित्य की अमोल निधियों का अनुवाद हिन्दी में हो और

हिन्दी साहित्य सम्पन्न हो जिससे हिन्दी साहित्य को परमुखापेक्षी नहीं बनना पड़े। उन्होंने हिंदी साहित्यकारों की समस्याओं का भी विवेचन किया है। उनका मानना था कि कानून द्वारा साहित्यकारों के हितों की रक्षा होनी चाहिए। इसी क्रम में उन्होंने लिखा है- "*कानूनन साहित्य सम्मेलन को अधिकार मिलना चाहिए कि हिन्दी लेखकों पर यदि प्रकाशक की ओर से अत्याचार होता देखा जाय तो उनकी कृतियों को वे प्रकाशक से ले लेने का अधिकार रखें।*"[6] स्पष्ट है कि वह प्रकाशकों के द्वारा हिन्दी लेखकों पर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध थे। वे कानूनी रूप से साहित्य सम्मेलन को अधिकार देने के पक्षधर थे जिससे साहित्य सम्मेलन उन कृतियों को अधिकार में ले, जिनके लेखकों पर प्रकाशकों द्वारा अत्याचार होता है। अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण ही वह पत्रों पर पूँजीपतियों के आधिपत्य के विरुद्ध थे। उन्होंने लिखा है- "*आज जो पत्रों पर कारोड़पतियों का यह आधिपत्य स्थापित हो रहा है, वह पत्रकार की स्वतंत्रता के लिए ही घातक नहीं है बल्कि इसका परिणाम लोकतंत्र के भी प्रतिकूल होगा। हम आज ही देख रहे हैं कि इन बड़े-बड़े पत्रों ने किस तरह अपने समाचारपत्रों पर भीतरी सेंसर बैठा रखा है और कोई भी घटना या विचार जो पत्र मालिकों के हिट या विरुद्ध होते हैं, वह उनमें छपने नहीं पाता।*"[7] इस प्रकार उनका विचार स्पष्ट है कि वे पूँजीपतियों के पत्रों पर आधिपत्य को पत्रकार की स्वतंत्रता के लिए घातक मानते थे। कारण कि, पूँजीपति पत्रों में अपने हित के अनुकूल ही समाचार छापना चाहते हैं और जहाँ पत्रों के मालिकों को प्रतीत होता है कि कोई समाचार या विचार उनके हित के विरुद्ध है, वे उसे छापने नहीं देते।

राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी साहित्येतिहास के गहन अध्ययन विश्लेषण के पश्चात कुछ महत्वपूर्ण स्थापनाएँ दी हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य का आरंभकाल 8वीं शताब्दी को माना। तिब्बती ग्रंथों के आधार पर 84 सिद्धों के काल को हिन्दी का आरंभकाल कहा। हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'सिद्ध सामंत काल' नाम दिया तथा सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि माना और स्वयंभू को अपभ्रंश का ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि माना। छायावाद की नवीन परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है- "इस छायावाद की परिभाषा दूसरे चाहे कुछ भी करते हों, मैं तो इसे समझता पुरानी रूढ़ियों और नाना भांति की जकड़बन्दियों के प्रति विद्रोह का झण्डा उठाना, इसी में मैं आशामय भविष्य की आभा पाता हूँ।"[8] कहना न होगा कि राहुल जी ने छायावाद का नूतन मूल्यांकन तब किया जब हिन्दी के साहित्यकार सिरे से छायावाद की महत्ता को खारीज कर रहे थे। उन्होंने छायावाद को रूढ़ियों और जकड़बन्दियों के विरुद्ध विद्रोह का काल है।

मानव समाज के विकासक्रम का विज्ञानसम्मत विवेचन करने का प्रयास राहुल सांकृत्यायन ने अपनी कृति 'मानव समाज' में किया है। इस पुस्तक में उन्होंने हिन्दी साहित्यकारों के बीच के आपसी वैमनस्य को भी उद्घाटित करते हुए लिखा है- "*मैं समझता हूँ ऐसे पुस्तकों की उपयोगिता और बढ़ जाय, यदि वह अनेक समान धर्मा लेखकों के सहयोग से लिखी जाय किन्तु अभी हमारी भाषा में ऐसे विचार के आदमी कम मिलते हैं और लोग 'अपनी धान अपना कोल्हू' रखना चाहते हैं।*"[9] अत: स्पष्ट है कि उन्होंने सयुक्त लेखन पर जोर दिया है। चूंकि अपनी कृति 'मानव समाज' को 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' के परिवार की दूसरी किताब माना। अत: स्पष्ट है कि उन्होंने यह पुस्तक मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अंतर्गत लिखी है तथा हिन्दी के साहित्यकारों की आलोचना भी की है कि वे सयुक्त लेखन नहीं करना चाहते और संकीर्ण मानसिकता के अंतर्गत अपने विचार को बनाए रखना चाहते हैं।

घुमक्कड़ी को राहुल सांकृत्यायन दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु मानते थे। उन्होंने 'घुमक्कड़ शास्त्र' की रचना की। इसी कृति में कवीन्द्र रवीन्द्र के साहित्यिक योगदान की चर्चा करते हुए शांतिनिकेतन

विश्वविद्यालय के साहित्यिक एवं कलात्मक वातावरण की भी चर्चा की है। उनका विचार है– "*कवीन्द्र रवीन्द्र को केवल काव्यकर्ता और नाट्य–रचयिता के रूप में हम नहीं पाते। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक और बौद्धिक देन का बहुत अच्छा मूल्यांकन किया था। पश्चिम की चकाचौंध से उनके पैर जमीन से नहीं उखड़े और न हमारे देश की रूढ़िवादिता ने उनको अकर्मण्य बनाने में सफलता पाई। भावी भारत की कितनी ही बातों का रवीन्द्र ने मानदंड स्थापित किया।*"[10] इसी क्रम में उन्होंने आगे लिखा है– "*शांतिनिकेतन में भारतीय विद्या, भारतीय संस्कृति और तत्वज्ञान के अध्ययन को भी वो भूले नहीं। वृहत्तर भारत पर शांतिनिकेतन में जितनी अच्छी पुस्तकें हैं, वैसी भारत में अन्यत्र कम मिलेंगी। लेकिन रवीन्द्र यह भी जानते थे कि केवल साहित्य से भूखे, नंगे भारत को भोजन नहीं दिया जा सकता। उन्होंने कवि और उद्योग धंधों की विकास की शिक्षा के लिए श्रीनिकेतन को स्थापित किया।*"[11] इसी क्रम में रवीन्द्र के घुमक्कड़ी प्रवृत्ति की महत्ता को उद्घाटित करते हुए लिखा है– "*रवीन्द्र की प्रतिभा इतने व्यापक क्षेत्र में कभी सचेष्ट न होती, यदि उन्होंने आंशिक रूप से घुमक्कड़ी पाठ स्वीकार ना किया होता।*"[12] इन तीनों उद्धरणों से राहुल सांकृत्यायन का विचार स्पष्ट है कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा का विवेचन करते हुए उनके भारतीय साहित्य संस्कृति तथा बौद्धिक देन की चर्चा की है। उनका मानना था की विदेशों में भ्रमण के पश्चात भी रवीन्द्रनाथ के हृदय में भारत के प्रति प्रेम पूर्ववत ही विद्यमान रहा, न तो विदेशी चकाचौंध ने उन्हें अपने वश में किया और ना ही भारत में मौजूद रूढ़िवादिता ही उनके रास्ते का रोड़ा बन पायी। शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या संस्कृति तथा तत्वज्ञान से संबंधित पुस्तकों का भंडार बतलाया। वे जानते थे कि देशवासियों को शिक्षा के साथ–साथ रोजगार भी चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने रवीन्द्र द्वारा औद्योगिक शिक्षा के लिए स्थापित श्रीनिकेतन की प्रशंसा की। उन्होंने स्पष्ट रूप से यह धारणा हमारे समक्ष रखी कि रवीन्द्रनाथ की व्यापक प्रतिभा का कारण आंशिक रूप से उनका घुमक्कड़ी पाठ को स्वीकार करना है। उनका मानना था कि रवीन्द्र के देश विदेश भ्रमण ने उन्हें सम्पूर्ण विश्व को आत्मीय रूप में देखने की दृष्टि दी। उन्होंने कहा कि कवीन्द्र के विशाल भ्रमण ने उनकी महती संस्था को विश्वभारती बनने की प्रेरणा दी। उन्होंने लिखा है– "इसलिए यह अतियुक्ति नहीं होगी, यदि हम यह कहें कि घुमक्कड़ की चर्चा सरस्वती के आवाहन में भारी सहायक हो सकती है।"[13] स्पष्टत: हम कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्य और कला के सृजन में घुमक्कड़ी को सहायक माना। घुमक्कड़ी को सत्य की खोज के लिए, कला के निर्माण के लिए, सद्भावनाओं के प्रसार के लिए महान दिग्विजय माना। राहुल सांकृत्यायन के अमूल्य साहित्यिक योगदान की चर्चा करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है– "*महापंडित राहुल सांकृत्यायन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन का प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का है। यह दृष्टिकोण केवल साहित्येतिहास लेखक की दृष्टि से निर्णायक महत्त्व का नहीं है। उनका मानना था कि साहित्य की समझ और साहित्य की संवेदना की परख के नए औजार देते हैं और वे साहित्य से प्रभावित होने की प्रगतिशील आस्वाद क्षमता भी प्रदान करते है।*"[14] राहुल सांकृत्यायन ने साहित्य के अन्वेषण, वास्तविक दृष्यगत अध्ययन, अनुशीलन चिंतन द्वारा साहित्य की समझ और परख के नए मानदंड स्थापित किए हैं जो उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है। समग्रत: हम कह सकते हैं कि राहुल सांकृत्यायन का सम्पूर्ण साहित्य मार्क्सवादी साहित्यिक चिंतन दृष्टि को महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान करता है।

संदर्भ :

1. सांकृत्यायन, राहुल, *भागो नहीं दुनिया को बादलो*, किताब महल, इलहाबाद, 56 ए, बोरों रोड, प्रयाग, तीसरा

संस्करण, 1948 : 3

2. सांकृत्यायन, राहुल, *साहित्य निबंधावली*, किताब महल, इलहाबाद, 56 ए, बोरों रोड, प्रयाग, दूसरा संस्करण, 1949 : 147
3. वही : 145, 146
4. वही : 148
5. वही : 149
6. वही : 151
7. वही : 152
8. वही : 3
9. सांकृत्यायन, राहुल, *साहित्य निबंधावली* : 1
10. सांकृत्यायन, राहुल, घुमक्कड़ शास्त्र, राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1949 : 136
11. वही : 137
12. वही : 137
13. वही : 139
14. मैनेजर पांडेय एवं अनीक कुमार पांडेय (संपादक), '*महापंडित राहुल सांकृत्यायन स्मारक व्याख्यान*', स्वराज प्रकाशन, 4648/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017 : 144

* * *

प्रेमचंद और राष्ट्रीय आंदोलन

❍ चुम्मन प्रसाद

कथासम्राट प्रेमचंद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के निर्भीक और अविचल योद्धा थे। विदेशी सत्ता के साम्राज्यवादी चक्र में दबा-पिसा भारत उनकी रचनाओं में बड़े ही मार्मिक ढंग से परिलक्षित हुआ है। प्रेमचंद भारतीय राजनीतिक जागरण के एक स्तंभ हैं। देश की स्वाधीनता के विचारों का प्रचार-प्रसार उन्होंने साहित्य के माध्यम से उतने ही प्रभावशाली ढंग से किया जितना सक्रिय राजनीति में सत्य और अहिंसा के द्वारा महात्मा गाँधी ने। साहित्य का जनता के संस्कारी मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसमें कला अंतर्निहित रहती है। प्रेमचंद इस तथ्य को अच्छी तरह समझते थे। पराधीनता की श्रृंखलाएँ तोड़ने के लिए भारतीयों में नवीन चेतना, साहस और शक्ति का संचार प्रेमचंद ने साहित्य के द्वारा किया। उन्होंने सोये भारत को झकझोर कर जगाया ही नहीं, उसे उसकी दयनीय दशा से भी परिचित कराया और उसे क्रांति हेतु संगठित अभियान के लिए तैयार करने का प्रयास भी किया। उनके साहित्य में भारत की आत्मा बोलती है।

प्रेमचंदकालीन भारत की राजनीतिक अवस्था बड़ी अनिश्चित थी। राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के नेतृत्व में स्वाधीनता आंदोलन जोर पकड़ रहा था। यद्यपि कुछ असफलताएँ उसके इतिहास में विद्यमान हैं, पर इन असफलताओं से स्वाधीनता की आग दबी नहीं, प्रत्युत और व्यापक व तीव्र ही होती गई। प्रेमचंद ने अपनी आँखों जनता के जुलूस देखे थे, जो स्वाधीनता की मशाल लिए सड़कों-सड़कों तथा गलियों-गलियों निकलती थी। इसके साथ ही साथ प्रेमचंद ने अपनी आँखों से अंग्रेजी हुकुमत के अत्याचार, अन्याय और दमन के दृश्य को भी देखा। एक सजग व प्रबुद्ध लेखक होने के नाते वे भारत के राष्ट्रीय आंदोलन से तटस्थ नहीं रह सके। सन् 1920 के आसपास, जब देशव्यापी असहयोग आंदोलन चल रहा था, उन्होंने उससे प्रभावित होकर सरकारी नौकरी छोड़ दी और 'कलम का मजदूर' बनकर स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़े। आगे चलकर वे बराबर कंग्रेस की बैठकों में भाग लेते रहे। श्रीमती शिवरानी देवी ने जैसा लिखा है- *"कांग्रेस की मीटिंग रोजाना चल रही थी, उसमें भी वे शरीक होते। मीटिंग से कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते।"*[1]

प्रेमचंद के साहित्य का तत्कालीन राजनीति से घनिष्ठ सम्बंध है। शिवरानी-प्रेमचंद का यह वार्तालाप प्रेमचंद के साहित्य और राजनीति सम्बंधी विचारों को प्रकट करता है :

प्रेमचंद - *"जब तक यहाँ के साहित्य में तरक्की न होगी, तब तक साहित्य, समाज और राजनीति सब के सब ज्यों-के-त्यों पड़े रहेंगे।"*

शिवरानी - *"तो क्या आप इन तीनों की एक माला-सी पिरोना चाहते हैं ?"*

प्रेमचंद – "*और क्या ? ये चीजें माला जैसी ही हैं, जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलने वाली चीजें हैं।*"[2]

यह ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे और उनकी स्वतंत्रता का दृष्टिकोण नितांत जनवादी था। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'कर्मभूमि' में डॉ. शांति कुमार के मुख से उन्होंने जनता की सरकार औए क्रांति का समर्थन किया है – "*जब तक रियाया के हाथ में अख्तियार न होगा, अफसरों का यही हाल रहेगा... गरीबों की लाश पर सबके सब गिद्धों की तरह जमा होकर उनकी बोटियाँ नोच रहे हैं. .. इस हाहाकार को बुझाने के लिए दो-चार घड़े पानी डालने से तो आग और भी बढ़ेगी। इंकलाब की जरूरत है, पूरे इंकलाब की।*"[3]

वे वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें अमीर-गरीब का भेद न हो – "*गवर्नमेंट तो कोई जरूरी चीज नहीं। पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाये रखने के लिए संगठन बना लिया है। उसी का नाम गवर्नमेंट है; गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो, गवर्नमेंट का खात्मा हो जाता है।*"[4]

सर्वहारा वर्ग के प्रति उन्हें स्वाभाविक सहानुभूति थी। वे उसे धनिक वर्ग के सामने अपमानित होते देखना पसंद नहीं करते थे। वे ऐसी आजादी के समर्थक न थे जो मानवीय अधिकारों को दबाकर रखे। जागती हुई जनता के संबंध में उन्होंने लिखा है, "*उसे अपने स्वत्व का ज्ञान हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया कि उन्हें भी आराम से रहने का इतना ही अधिकार है, जितना धनियों को।*"[5]

मार्क्सवादी समीक्षक श्रीयुत अमृतराय के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "*प्रेमचंद की देशभक्ति कोई शून्य, हवाई देशभक्ति नहीं, सच्ची जनवादी देशभक्ति है और उन्होंने जो कुछ लिखा है देश में जनता का शासन, जनवाद कायम करने के लिए लिखा है।*"[6]

प्रेमचंद के विचारों में परिवर्तन होते गए हैं। 'प्रेमा' से 'मंगलसूत्र' तक उन्होंने एक बहुत बड़ी वैचारिक यात्रा पूर्ण की है। प्रारंभ में वे सुधारवादी तथा नरम दक्षिणमार्गी हैं, पर बाद में बड़े उग्र क्रांतिकारी तथा वाममार्गी। यह परिवर्तन उनके अनुभव पर आश्रित है। उन्होंने दिन-दिन बढ़ते शोषण और अत्याचार को देखकर अपनी राय स्थापित की।

प्रारम्भ में उनपर गाँधीवादी-दर्शन का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव था; पर आगे चलकर सुधारवादी दृष्टिकोण पर से उनका विश्वास हिल गया। उनके उपन्यासों में भारतीय स्वाधीनता की गूँज सर्वप्रथम 'सेवासदन' में सुनाई देती है जहाँ उन्होंने एक भविष्य-द्रष्टा की तरह यूरोप के व्यापारिक साम्राज्यवाद के प्रति लिखा है, "*शिला और कला-कौशल का यह महल उसी समय तक है जब तक संसार में निर्बल -असमर्थ जातियाँ वर्तमान हैं। उनके गले सस्ता माल मढ़कर यूरोपवाले चैन करते हैं। पर ज्यों ही वे जातियाँ चेतेंगी, यूरोप की प्रभुता नष्ट हो जावेगी।*"[7]

उन्होंने भारतीय युवकों को पाश्चात्य-संस्कृति तथा विदेशी भाषा के पीछे मतवाले होने से रोका व सचेत किया। देश में जब स्वाभिमान तथा निज की संस्कृति के प्रति उपेक्षा भाव बढ़ता जाता है तब वह देश तथा जाति मृतवत् हो जाती है। भारतीय युवकों के द्वारा भारतीय-संस्कृति की उपेक्षा ही नहीं हुई, वरन् एक समय था जब पाश्चात्य सभ्यता के ये भक्त-युवक उसका उपहास करते थे। अपनी भाषा में बोलना उनके लिए अपने को अशिक्षित तथा असभ्य बताना था। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जाति में पाये जाने वाले आत्महीनता के भावों को व्यक्त किया है, क्योंकि उनके उपन्यास केवल हमारा मनोरंजन ही नहीं करते, प्रत्युत वे समस्याओं को भी सम्मुख रखते हैं, उन समस्याओं के कारणों पर प्रकाश भी डालते हैं तथा उसके हल

का उपाय भी सुझाते हैं। इन समस्याओं में भारतीय स्वाधीनता की समस्या भी एक है। अंग्रेजी भाषा के ‘गुलामों’ को प्रेमचंद ‘सेवासदन’ के एक समाजसुधारक पात्र बिट्ठलदास के द्वारा जाग्रत करना चाहते हैं– “*आपकी अंग्रेजी–शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान् किसी विषय के गुण–दोष प्रकट न करे, तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं। आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं, बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेदस्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है। आप में अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है।.... यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं गई गुजरी है। आप उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं।*”[8]

बीसवीं सदी के भारतीय समाज के लिए सबसे बड़ी घटना है अंग्रेजी राज की गुलामी से मुक्ति के लिए इस देश की जनता का संघर्ष। प्रेमचंद उस संघर्ष की वास्तविकताओं और संभवानाओं के अनन्य कथाकार होने के कारण बीसवीं सदी के प्रतिनिधि कथाकार भी हैं। प्रेमचंद स्वराज को केवल राजनीतिक स्वाधीनता तक सीमित नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है कि जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन–रात गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला–सी उठती है, वह किसी ऐसे स्वराज की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता जिसमें कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों–की–त्यों बनी रहे। इसलिए उन्होंने कहा था कि हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से ही नहीं, हिंदुस्तान के सत्ताधारियों से भी है।

प्रेमचन्द की नजर में स्वराज की धारणा कुछ अलग थी। वे ऐसी स्वाधीनता चाहते थे जो राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक भी हो। वे उपनिवेशवाद से ही नहीं, सामंती और पूँजीवादी शोषण, पराधीनता, संकीर्ण राष्ट्रवाद और जाति व्यवस्था से भी भारतीय समाज की मुक्ति चाहते थे। वे अमीरों का नहीं, गरीबों का, शोषितों और पीड़ितों का, किसानों, मजदूरों, दलितों और स्त्रियों की स्वाधीनता का पोषक स्वराज चाहते थे।

यह सत्य है कि प्रेमचंद स्वतंत्रता संग्राम में प्रत्यक्ष रूप से सक्रिय नहीं थे। वे कभी आंदोलन में सम्मिलित हुए हो या जेल गए हो ऐसा नहीं हुआ। प्रेमचंद व्यक्ति और कथाकार के रूप मे स्वाधीनता अंदोलन से जुड़े थे। उनके लेखन का लक्ष्य था स्वराज। सन् 1930 में ‘विशाल भारत’ पत्रिका के सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि “*मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वतंत्रता संग्राम में विजयी हों। यह जरूर चाहता हूँ कि दो–चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज प्राप्ति ही हो।*” उन्होंने कथाकार के रूप में स्वाधीनता आंदोलन की समग्र प्रक्रिया का चित्रण किया है जिसमें स्वाधीनता आंदोलन की अनेक अवस्थाएँ प्रकट हुई हैं। वे व्यक्तिगत बलिदान से लेकर जन आंदोलन तक का चित्रण करते हैं और साथ ही स्वाधीनता आंदोलन के अंतर्विरोधों का भी। एक सजग पत्रकार/सम्पादक के रूप में ‘जमाना’, ‘हंस’, ‘जागरण’ में छपे लेखों में प्रेमचंद स्वाधीनता आंदोलन की गति, शक्ति और असंगतियों का विश्लेषण भी करते दिखाई देते हैं।

पाश्चात्य विद्वान् फ्रैंज फैनन ने लिखा है कि “*अगर साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के समय राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक चेतना नहीं बनाया जाता तो भविष्य मुक्ति का नहीं, उपनिवेशवाद के बदले रूप का होगा। इसलिए राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक और राजनैतिक आवश्यकताओं में रूपांतरित करते हुए उसे अधिक व्यापक और गहरा अर्थात् वास्तविक रूप में मानवीय बनाना जरूरी है।*” प्रेमचंद ने फ्रैंज फैनन से बहुत पहले इस सच को पहचान लिया था। इसीलिए उनके उपन्यासों और कहानियों में स्वाधीनता के व्यापक अर्थ की पहचान व्यक्त हुई है और उनमें किसानों, स्त्रियों और दलितों की पराधीनता के जटिल यथार्थ के चित्रण

के साथ-साथ उनकी स्वाधीनता की आकांक्षा की अभिव्यक्ति हुई है। उनका कथा साहित्य जनता के जीवन-संघर्ष का आख्यान है और राष्ट्र मुक्ति का संघर्ष भी।

यद्यपि प्रेमचंद राष्ट्रीय आंदोलन से अपनी रचनाओं के माध्यम से जुड़े थे, लेकिन उस राष्ट्रीय आंदोलन में जो राष्ट्रवाद सक्रिय था, उसे वे संदेह की नजर से देखते थे। यही कारण है कि प्रेमचंद अपने उपन्यासों और कहानियों में राष्ट्रवादियों की कथनी और करनी में दूरी, समझौतापरस्ती, ढुलमुलपन, अंग्रेजी राज से साँठ-गाँठ और दिमागी गुलामी को भी सामने लाते हैं। यही नहीं, वे अपनी रचनाओं में आम जनता की ओर से यह सवाल भी पूछते हैं कि भारत में आजादी के बाद किसकी कल्पना का स्वराज होगा। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'गबन' का एक पात्र देवीदीन एक राष्ट्रवादी नेता से पूछता है, "*साहब ! सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो तब उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है ? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट-बाट बनाए घूमोगे? इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा... तुम दिन में पाँच बार खाते हो और वह भी बढ़िया माल। गरीब किसानों को एक जून सूखा चबेना भी नहीं मिलता... अभी तुम्हारा राज नहीं है तब तो तुम भोगविलास पर इतना मरते हो। जब तुम्हारा राज हो जाएगा तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।*"[9]

देवीदीन का प्रश्न आज भी अनुत्तरित है और उसकी आशंका शत-प्रतिशत सच साबित हुई है। प्रेमचंद केवल सता का हस्तांतरण नहीं, सचमुच का स्वराज चाहते थे। उन्होंने सन् 1930 में एक कहानी लिखी थी 'आहुति'। उस कहानी की नायिका कहती है कि "*अगर स्वराज आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थांध बना रहे तो मैं कहूँगी कि ऐसे स्वराज का ना आना ही अच्छा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं। उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं। कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज का यह अर्थ नहीं कि जॉन की जगह बैठ जाए, मैं ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ जहाँ कम-से-कम विषमता को आश्रय न मिल सके।*" यह प्रेमचंद के स्वराज का घोषणा-पत्र है जो आज भी अधूरा है और केवल आम जनता की आकांक्षा तक सीमित है।

अन्यायी शासक दमन का सहारा लेता है। वह राष्ट्रीय भावनाओं, जन आंदोलनों, राष्ट्रीय साहित्य आदि को कुचलने के षड्यंत्र रचता है। अंग्रेजी शासन ने जितने दमन-चक्र चलाये उनके उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलेंगे। प्रेमचंद भारतीय जनता को दमन का वीरता से सामना करने योग्य बनाते हैं। उनमें आत्म-सम्मान, साहस तथा देशप्रेम के भावों का प्रसार करते हैं। प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगभूमि' के एक पात्र प्रभुसेवक के मुख से रक्तपात से डरनेवालों की कापुरुषता पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है- "जब तक हम खून से डरते रहेंगे, हमारे स्वप्न भी हमारे पास आने से डरते रहेंगे। उनकी रक्षा तो खून ही से होगी। राजनीति का क्षेत्र समरक्षेत्र से कम भयावह नहीं है। उसमें उतरकर रक्तपात से डरना कापुरुषता है।"[10]

इस प्रकार प्रेमचंद ने साहित्य के द्वारा देश और जाति में नई चेतना उत्पन्न की, स्वाधीनता-संग्राम को वाणी दी और जनता के एक बहुत बड़े तथा महत्वपूर्ण भाग को स्वतंत्रता के रहस्य से परिचित कराया। उनका साहित्य स्वतंत्रता का सजग प्रहरी है। भारत के स्वाभिमान और गौरव का धरोहर है। जिस देश ने प्रेमचंद जैसे लेखक उत्पन्न किए वह कभी भी पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता। वह सदैव एक गत्यात्मक वातावरण में फलेगा-फूलेगा। प्रेमचंद का साहित्य केवल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का ही साहित्य नहीं है वरन् संसार की समस्त पीड़ित, दुःखी और शोषित जनता का साहित्य है। अन्य पराधीन या अर्द्ध-पराधीन देश उनके साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि प्रेमचंद ने स्वातंत्र्य-भावना को कभी भी और कहीं भी संकीर्ण

रूप में नहीं देखा। जनवादी होने के कारण वे मानव मात्र के हैं और संत्रस्त मानवता को, उनके साहित्य से सदैव आत्मबल मिलता रहेगा।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद घर में, शिवरानी देवी : 84
2. वहीं : 94-95
3. कर्मभूमि : 231
4. वहीं : 234
5. वही : 236
6. शांति के योद्धा प्रेमचंद, अमृत राय : 06
7. सेवासदन : 155
8. वहीं : 244-245
9. गबन : 175
10. रंगभूमि (भाग-1) : 422

❑❑❑

आलेख

हिंदी में कोश-रचना की परंपरा

❍ राजकुमार

ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं है जहाँ कोशों की आवश्यकता न पड़ती हो। यानी अध्येताओं द्वारा कोशों की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। प्राचीन काल से आधुनिक समय तक मानव सभ्यता के विकास में भाषा का विशेष स्थान है और भाषा के विकास में कोशों का विशेष स्थान रहा है। कोशों का विकास तो धीरे-धीरे हुआ लेकिन इस विकास के साथ-साथ भाषा का विकास अधिक तेजी से हुआ है। बहरहाल, ध्यान देने की बात है कि यहाँ हम 'हिन्दी में कोश-रचना की परम्परा' पर अपनी बात केन्द्रित रखेंगे। इससे पूर्व कोश और कोश-रचना के विषय में थोड़ी चर्चा करना समीचीन होगा।

हिन्दी में मानकीकरण की दृष्टि से कोश शब्द दो रूपों में लिखा जाता है। एक कोश को तालव्य 'श' से तथा दूसरे कोष को मूर्धन्य 'ष' से। मूर्धन्य 'ष' वाले कोष का अर्थ खजाना के लिए व्यवहृत है, वहीं तालव्य 'श' वाले कोश से तात्पर्य है ऐसे शब्दों का संग्रह जिसमें उनके संबंध में जानने योग्य सामग्री दी गई हो। इस प्रकार कोश शब्द को परिभाषित करने के लिए पुष्पलता तनेजा 'नवीन कोश बनाम प्राचीन कोश' नामक अपने आलेख में कहती हैं कि "*शब्दों का संकलन करके उनका अर्थ भी साथ दे दिया जाए तो वह एक ग्रंथ का रूप ले लेता है जिसे हम कोश कहते हैं।*" कोश के संबंध में कोशकारों के मतों को ध्यान में रखें तो शब्द संकलन में जो कोश शब्दों के शुद्ध और स्पष्ट अर्थ बताकर पाठक की शंका का निवारण करे, वही कोश सबसे अच्छा माना जाता है।

कोश कला है या विज्ञान ? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। रामचन्द्र वर्मा अपनी पुस्तक कोशकला में कहते हैं कि "*तार्किक दृष्टि से इस विषय में बहुत-कुछ मतभेद हो सकता है कि कोश-रचना का अन्तर्भाव विज्ञान में होना चाहिए या कला में। मेरी समझ में यह विषय 'कला' के ही अंतर्गत आता है।*" चूंकि "*भाषाविज्ञान की एक शाखा के रूप में कोशविज्ञान भी मान्य है*" अतः इसका आधार बतलाते हुए भोलानाथ तिवारी कहते हैं कि यद्यपि 'शब्दविज्ञान' को भाषाविज्ञान की एक शाखा मानने पर, जैसा उन्होंने अपनी 'भाषाविज्ञान' पुस्तक में किया है, 'कोशविज्ञान' को 'शब्दविज्ञान' की एक शाखा मानना ही अधिक उचित है, क्योंकि इसमें विशेष दृष्टि से शब्दों का ही अध्ययन किया जाता है। अतः आगे अब हमें कोश-रचना या कोशकला को समझ लेना चाहिए। भोलानाथ तिवारी अपनी 'भाषा विज्ञान' पुस्तक में लिखते हैं कि "*कोशविज्ञान (Lexicology) से सम्बद्ध ही दूसरा शब्द कोशकला (Lexicography) है। कोशविज्ञान तो कोश बनाने का विज्ञान है। इसमें उन सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं जिनके आधार पर कोश बनाते हैं। इस प्रकार, इसका सम्बन्ध सिद्धान्त से है। दूसरी ओर, 'कोशकला' सिद्धान्त न होकर कला या*

प्रयोग है। सिद्धान्तों के आधार पर कोश बनाना इसमें आता है।" इसीलिए कहना न होगा कि कोशकला और कोश-रचना अर्थात् Lexicography एक-दूसरे से अर्थ साम्य रखते हैं।

हिन्दी कोश परम्परा पर आगे चर्चा करने से पूर्व हमें कोश-रचना या कोश-निर्माण के आरंभ पर भोलानाथ तिवारी के इस दृष्टिकोण से अवगत होना चाहिए। वे कहते हैं कि *" भाषाविज्ञान की अन्य शाखाओं के कार्यों की भाँति ही कोश-निर्माण भी सबसे पहले अपने प्रारम्भिक रूप में भारतवर्ष में ही विकसित हुआ। लगभग 1000 ई.पू. निघण्टुओं की रचना हुई। तब से लेकर 1000 ई. तक इन दो हजार वर्षों में भारत में कई प्रकार के सैकड़ों कोश लिखे गए, जिनमें से बहुत से तो अब भी उपलब्ध हैं। यूरोप में 1000 ई. के पूर्व ठीक अर्थों में कोश नहीं मिलते। अंग्रेजी कोशों का इतिहास तो 16वीं सदी के अंतिम चरण से ही प्रारम्भ होता है, यद्यपि अब वे संसार में संभवत: सबसे आगे हैं।"*

कोश अपने शब्द-भण्डार से भाषा और साहित्य को समृद्ध करने का कार्य करते हैं। किसी भाषा को सुगठित बनाने के लिए उसमें व्याकरण तथा कोश-निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता होती है। अत: एक समृद्ध भाषा के लिए अच्छे वैयाकरण के साथ-साथ अच्छे कोशकार की भी जरूरत होती है। हिन्दी भाषा में इसकी एक समृद्ध परम्परा मिलती है। बहरहाल, हिन्दी कोश-परम्परा के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालने के क्रम में हिन्दी भाषा के काल-विभाजन का आधार जान लेना आवश्यक है। जिसे ध्यान में रख आगे हम हिन्दी कोशों की परम्परा पर चर्चा करेंगे। भोलानाथ तिवारी अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा और नागरी लिपि' में हिन्दी भाषा का काल विभाजन इस प्रकार करते हैं -

1. आदिकाल (1000 ई. से 1500 ई.)
2. मध्यकाल (1500 ई. से 1800 ई.)
3. आधुनिक काल (1800 ई. से अब तक)

आधुनिक काल तो अब तक चल रहा है। अत: कुछ बातों को ध्यान में रखते हुए इसको भारत के स्वातंत्र्योत्तर काल के पश्चात भारतीय कोश विज्ञान के आधुनिक यास्क रामचन्द्र वर्मा (1889-1969 ई.) के जीवन काल के अंतिम दशक यानी 1970 ई. तक सीमित रखते हैं।

1. आदिकाल (1000 ई. से 1500 ई.)

इस काल खण्ड में हस्तलिखित या मुद्रित सामग्री का अभाव है। कोश आदि के लिए इस काल में मौखिक विद्या को ही अधिक प्रोत्साहन मिला। अत: 13वीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी में कोई कोश-ग्रन्थ रहा हो, उसका कोई स्रोत हमें नहीं मिलता। जबकि इससे पूर्ववर्ती कोश हिन्दी से कम संस्कृत कोश-साहित्य से अधिक प्रभावित हैं। बहरहाल, कुछ आगे चलकर इस काल खण्ड में 'खालिकबारी' और 'वर्णरत्नाकर' नामक दो कोश अवश्य मिलते हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

खालिकबारी : इसकी सभी प्रतियाँ नस्तालीक लिपि (Hands Calligraphic used to write the Persian & Arabic Script) में मिलती हैं। अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर से 'खालिकबारी' की एक हस्तलिखित प्रति देवनागरी लिपि में भी लिखी मिलती है, जिसके अंत में अमीर खुसरो का नाम न होकर पण्डित अभयसोमि का नाम है। परंतु यह प्रति वास्तव में प्रचलित 'खालिकबारी' की ही प्रतिलिपि मात्र है, केवल शब्दों के राजस्थानी रूप दे दिए गए हैं। जनश्रुति के अनुसार इसके रचयिता अमीर खुसरो को माना जाता है और इस कोश की रचना 13वीं शताब्दी में हुई थी। बहरहाल, *" खालिकबारी का मूल लेखक जो भी हो, उसके प्रचलित रूपांतर के आधार पर कहा जा सकता है कि यह हिन्दी का प्रथम मौलिक कोश*

है। संस्कृत कोशों का पर्याय व अनेकार्थी पद्धति का पूर्ण त्याग कर, कोशकार ने एक नितान्त नवीन शैली का आविष्कार किया। इसमें हिन्दी, अरबी तथा फारसी के तदर्थी शब्दों को एक साथ छंदोबद्ध किया गया है। किन्तु विभिन्न शब्दों की भाषा का कोई क्रम नहीं है।" संक्षेप में कहा जा सकता है कि खालिकबारी ने हिन्दी कोशों में एक नवीन शैली व दिशा प्रस्तुत की है, जिसके अनुकरण पर अनेक परवर्ती द्विभाषीय कोशों की रचना हुई।

वर्णरत्नाकर : ज्योतिरीश्वर ठाकुर रचित वर्णरत्नाकर मिथिला क्षेत्र के प्राचीन हिन्दी शब्दावली का एक अच्छा संग्रह है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर मिथिला के 13वीं-14वीं शताब्दी के एक संस्कृत घराने से थे। वस्तुतः वर्णरत्नाकर का रचना समय संभवतः 1320 ई. है। इसमें प्रायः 600 शब्द हैं जो मूलतः पुरानी हिन्दी-मैथिली भाषा के शब्दों का संग्रह है।

2. मध्यकाल (1500 ई. से 1800 ई.)

हिन्दी कोशों के आदिकाल के पश्चात मध्यकालीन हिन्दी कोश परम्परा पर लौकिक संस्कृत के कोश-साहित्य एवं कोश-रचना विधि का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। इस अवधि में छोटे-बड़े कई कोश ग्रन्थ बने, जिनमें कुछ तो अब उपलब्ध भी हैं। अतः यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध कोशों का संक्षिप्त परिचय देना उचित होगा, जिससे मध्यकालीन हिन्दी कोश-रचना पद्धति को जानने में सुगमता होगी।

डिंगलनाममाला : हिन्दी के समानार्थी शब्द कोशों में यह सबसे प्राचीन उपलब्ध कोश है। यह हरिराज कृत माना जाता है तथा इसका रचनाकाल लगभग 1561 ई. है। इस छोटे से कोश में 27 छंदों में कुछ प्रचलित शब्दों के पर्याय छन्दबद्ध दिए गए हैं। पुनः इसका प्रकाशन डिंगल कोश के अन्तर्गत जोधपुर, राजस्थानी शोध संस्थान से 1957 ई. में सम्पन्न हुआ है। यह कोश प्राचीन होने के कारण तत्कालीन कई शब्दों की अच्छी जानकारी देता है। इसलिए राजस्थानी भाषा के विकास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

अनेकार्थ और नाममाला : अष्टछाप के प्रसिद्ध वैष्णव कवि नन्ददास ने दो कोश ग्रन्थों की रचना की - अनेकार्थ और नाममाला। इन दोनों कोशों का रचना काल 1568 ई. माना जाता है। वास्तव में इन दोनों कोशों को लिपिकारों ने इतना घुला मिला दिया है कि ये दोनों नाम कभी-कभी एक-दूसरे के लिए भी प्रयुक्त किए जाते हैं। ये दोनों समानार्थी कोश हैं। सम्भव है नन्ददास ने दोनों कोशों की रचना भी एक साथ ही की हो।

अनभै प्रबोध : इस कोश के रचयिता स्वामी गरीबदास हैं तथा इसकी रचना 1615 ई. में मानी जाती है। 'अनभै प्रबोध' संत साहित्य की साधनापरक शब्दावली का छोटा-सा पद्य-बद्ध समानार्थी कोश है, इसमें संतसाहित्य में विपर्यय अथवा उलटबांसियों में जो जो प्रधान शब्द प्रयुक्त होते हैं उनके प्रतीकों, उपमानों तथा पर्यायों का संग्रह किया गया है।

प्रकाशनाममाला : इस विशाल कोश के रचयिता मियाँ नूर हैं। वे कहते हैं, "*सत्रह सै चवन बरस, बिजै दस्मि इषु मास। नूर नाम माला करी, भाषा नाम प्रकास*" अर्थात् 1754 विक्रम संवत् (यानी 1697 ई.) आश्विन मास की विजयादशमी को प्रकाशनाममाला कोश ग्रन्थ पूर्ण हुआ। यह कोश संस्कृत के अमरकोश (चौथी-पाँचवीं शताब्दी) पर आधारित है। परंतु प्रकाशनाममाला मुख्य रूप से अमरकोश का अनुकरण करते हुए भी अमरकोश का भाषानुवाद नहीं कहा जा सकता। कोशकार ने एकांगी दृष्टिकोण न रखकर इस कोश में कई अन्य स्रोतों का भी पूर्ण रूप से उपयोग किया है। इसके लगभग एक तिहाई शब्द अमरकोश से नहीं मिलते ।

उपरोक्त वर्णित कोशों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के मध्यकालीन दौर में और भी अन्य कई कोशों की रचना हुई। जिनका यहाँ नामोल्लेख करना ही पर्याप्त होगा– नन्ददासकृत 'अर्थ चन्द्रोदय', बनारसीदास कृत 'नाममाला' (1613 ई.), भगवतीदास अग्रवाल कृत 'अनेकार्थ नाममाला' (1630 ई.), हरिदास कृत 'नामनिरूपण' (1630 ई.), बद्रीदास कृत 'मानमंजरी' (1668 ई.), मिर्जा खाँ रचित 'तुहफतुलहिन्द' (1675 ई.) इत्यादि।

3. आधुनिक काल (1800 ई. से अब तक)

'*हिन्दी कोश साहित्य : समीक्षात्मक अध्ययन*' में नाथू राम कालभोर ने आधुनिक काल के इस विभाजन को निम्नांकित दो भागों में विभाजित किया है– ब्रिटिश राज्यकाल (1800 ई. से 1947 ई.) और स्वातंत्र्योत्तर काल (1947 ई. से 1977 ई.)। आगे इसी विभाजन को आधार मान कर आधुनिक काल को कोशकार रामचन्द्र वर्मा के जीवन के अंतिम दशक यानी 1970 ई. तक सीमित करते हैं।

आधुनिक काल में हिन्दी का प्रथम प्रकाशित कोश ग्रन्थ किसे माना जाए, विद्वानों में इस विषय पर मतान्तर दिखाई देता है। चूंकि "*एक ओर जब कि बाबू श्यामसुन्दर दास पादरी एम. टी. एडम कृत 'हिन्दी कोश' सन् 1829 ई. को हिन्दी भाषा या देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित पहला कोश मानते हैं, तब दूसरी ओर आधुनिक कोश-विधा के प्रकांड पंडित श्री रामचन्द्र वर्मा के मत से श्री राधालाल कृत 'शब्दकोश' सन् 1873 ई. में मुद्रित हिन्दी का पहला कोश है।*" अपनी कृति 'कोशकला' में रामचन्द्र वर्मा लिखते हैं कि "*हिन्दी का जो पहला मुद्रित कोश मेरे देखने में आया, वह गया ट्रेनिंग स्कूल के हेड मास्टर श्री राधालाल कृत 'शब्द-कोश' था, जो सन् 1873 ई. में काशी से प्रकाशित हुआ था।*" हिन्दी का प्रकाशित पहला कोश विषयक मतमतान्तरों की वास्तविकता को देखते हुए नाथू राम कालभोर को आगरा के श्री उदयशंकर शास्त्री के निजी संग्रहालय से 'सप्तसिंधु' अप्रैल-मई 1954 ई. में प्रकाशित श्री रामचन्द्र वर्मा का एक आलेख – 'भारतीय भाषाएँ और उनके शब्द कोश' मिला जिसमें रामचन्द्र वर्मा का कथन इस प्रकार लिखा मिलता है– "*देवनागरी अक्षरों का पहला हिन्दी कोश पादरी एम. टी. एडम ने 1829 ई. में कलकत्ते से निकाला था। श्री जे. डी. वेट, श्री एम. डब्ल्यू. फेलन तथा श्री जे. टी. प्लाट्स के कोश आगे चलकर अच्छे भी हुए और विशेष प्रचलित तथा प्रामाणिक भी।*" अत: इस प्रसंग में पादरी मेथ्यून थामसन आदम का हिन्दी कोश आधुनिक पद्धति का वर्ण-क्रमानुसार संयोजित हिन्दी का प्रथम कोश मान्य ठहरता है।

आधुनिक दौर में हिन्दी शब्द सागर आगे चल कर हिन्दी कोश परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका प्रथम प्रकाशन काल सन् 1912-1928 ई. के मध्य है। यह विशाल शब्द सागर श्यामसुन्दर दास के सम्पादन में सम्पन्न हुआ था। हिन्दी शब्दकोशों की विकसित परम्परा में 'हिन्दी शब्द सागर' का प्रथम प्रकाशन प्रामाणिकता तथा उपादेयता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस बृहत् कोश ग्रन्थ के सम्पादन और प्रकाशन में 20 वर्ष लगे थे। इस शताब्दी के आरंभ में भी कई कोश-ग्रन्थ उपलब्ध थे जो शब्द समृद्धि की दृष्टि से अपर्याप्त थे; जैसे, गौरीदत्त कृत गौरी नागरी कोश (1901 ई.), मंगीलीलाल का मंगल कोश (1890 ई.), चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा प्रणीत हिन्दी शब्दार्थ पारिजात (1914 ई.) आदि प्रमुख हैं।

आगे स्वातंत्र्योत्तर काल में पूर्ववर्ती कोशों की भूलें तथा त्रुटियों को सुधारने और अद्यतन शब्द सम्पदा को उनके प्रयोग व दैनिक व्यवहार की दृष्टि से समता, एकरूपता लाने अर्थात् हिन्दी के मानकीकरण के लिए अच्छे और विशाल तथा प्रामाणिक कोशों की नितांत आवश्यकता है। इधर हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं के अंतर्गत अनेक प्रकार के कोश ग्रन्थ अस्तित्व में आए हैं और यह प्रयास आगे भी निरंतर जारी

है। इस अवधि में पारिभाषिक शब्दावलियों पर भी विभिन्न विषयों में काम हुआ है जो अनुवाद करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। समभाषी कोशों के अतिरिक्त द्विभाषी तथा बहुभाषी कोश भी बने हैं जो उपादेय हैं। यहाँ हिन्दी कोश परम्परा को आधार मानते हुए कुछ एकभाषी हिन्दी कोश उल्लेखनीय हैं- हरिशंकर शर्मा कृत 'अभिनव हिन्दी कोश' (1947 ई.), नवल जी कृत 'नालन्दा हिन्दी शब्द कोश' (1948 ई.), रामचन्द्र वर्मा रचित 'प्रामाणिक हिन्दी कोश' (1949 ई.), ब्रजकिशोर मिश्र कृत 'राष्ट्रभाषा कोश' (1951 ई.), कालिका प्रसाद एवं अन्य कृत 'बृहद् हिन्दी कोश' (1952 ई.), दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास कृत 'भारतीय हिन्दी कोश' (1956 ई.), रामचन्द्र वर्मा तथा अन्य रचित 'मानक हिन्दी कोश' (1952-1966 ई.) इत्यादि।

इस तरह हम हिन्दी कोशों की बृहत् परम्परा के संक्षिप्त परिचय से अवगत होते हैं। आधुनिक काल में विविध विषयी और भाषायी कोशों की महत्ता और बढ़ गई है। कहना न होगा कि यहाँ रामचन्द्र वर्मा का मत भी ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है; जब वे कहते हैं कि कोश एक कला है जिसमें शब्दकोशों के रचना सिद्धांतों का विवेचन होता है। प्राचीनकाल में शब्दार्थ आदि देखने की प्रक्रिया अनुक्रमणिकाओं द्वारा सरलीकृत की गई थी। किन्तु आधुनिक कोश विज्ञान एवं कोश-रचना की परम्परा इससे भिन्न है। कम समय में भाषा और उसके सटीक विश्लेषण हेतु यहाँ कोशों में वर्णक्रम पद्धति ही सफल हो सकती है। यह पद्धति पूर्व के श्लोकों या छंदबद्ध पंक्तियों की अपेक्षा अधिक सटीक व सरल मानी जाती है। कोशकार को ध्यान में रखना चाहिए कि न केवल भाषा के सिद्धहस्त अपितु भाषा सीखने वाले लोग भी कोशों का प्रयोग करते हैं। इस रूप में आधुनिक कोशों को प्राचीन या पूर्ववर्ती कोशों की परम्परा में कोश की सहायता से कोश निर्माण या कैंची-लेई कोश बनाने व बनने से बचना चाहिए। अंत में इन उपरोक्त बातों का निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी भाषा में कोशों का सूत्रपात चाहे पूर्व में जिस रूप में भी हुआ हो, आज के दौर में उसके वैश्विक ज्ञान परम्परा के मूलभूत पूँजी निर्माण और साझा मानवीय प्रयासों को देखते हुए, दुनिया भर में नए रूपों में हिन्दी भाषा में कोश-रचना की परम्परा की नितांत आवश्यकता बनी हुई है। कहना न होगा कि कोशों के माध्यम से हमें अपनी भाषा में परम्परागत शब्दों से परिचय तो मिलता ही है, साथ में आधुनिक आवश्यकताओं और भाषा विकास की जरूरतों के हिसाब से नवीन शब्द-सम्पदा का विकास भी इसमें शामिल रहता है; जो कि हिन्दी जैसी भाषाओं को साहित्यिक भाषा के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान और आधुनिक तकनीक की भाषा बनाने में मददगार हो जाती है।

❑❑❑

पुस्तक समीक्षा

कवि का विश्व : एक विहंगावलोकन

(जितेन्द्र श्रीवास्तव के काव्य पर केन्द्रित आलोचनात्मक पुस्तक)

❍ कपिल देव

जहाँ तक काव्य-विधा से मेरे जुड़ाव का सम्बन्ध है, कहना चाहूँगा कि नये पुराने जिन तमाम कवियों को पढ़ते हुए मेरे भीतर कविता पढ़ने और समझने की ललक पैदा हुई, उनमें जितेन्द्र श्रीवास्तव का नाम भी प्रमुखता से शामिल है। इन्हें तबसे पढ़ रहा हूँ जब वे पर्याप्त युवा थे और अपने पहले ही संग्रह '*इन दिनों हालचाल*' के साथ हिन्दी के युवा कवियों में अपनी प्रशंसनीय उपस्थिति दर्ज करा चुके थे।

जितेन्द्र श्रीवास्तव की ओर मेरा ध्यान सबसे पहले उनकी जिस कविता के माध्यम से गया, वह कविता थी 'सोनचिरई'। लगभग तीस साल पहले, हमारे गृह नगर में आयोजित एक छोटी सी गोष्ठी में जितेन्द्र श्रीवास्तव ने यह कविता सुनाई थी। लोककथा पर आधारित इस कविता में चित्रित एक वंध्या स्त्री की महाकाव्यात्मक पीड़ा ने मुझे भीतर तक झकझोर दिया था। स्त्री जीवन की इस कारुणिक काव्य-गाथा का मुझ पर ऐसा गहरा असर हुआ कि इस कवि के प्रति मेरे मन में आदर और आकर्षण अमिट हो गया। आज मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि जितेन्द्र श्रीवास्तव की वह कविता पढ़ने और सुनने के बाद ही शायद मेरे भीतर कविता समझने का विवेक जाग्रत हुआ होगा। मैंने समीक्षा और आलोचना के नाम पर जो भी लिखा है, उसके मूल में कहीं न कहीं इनकी कविताओं की प्रेरणा रही है। यह सुखद है कि चैनसिंह मीना ने अपनी आलोचनात्मक कृति '*कवि का विश्व*' में 'सोचचिरई' कविता पर अलग से एक अध्याय में सविस्तार चर्चा की है।

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं पर प्रभूत लेखन हुआ है। मृत्युंजय पाण्डेय, महेश पुनेठा, प्रो. अरुण होता, जितेन्द्र गुप्ता आदि बहुत सारे प्रबुद्ध आलोचकों ने इनकी कविताओं का बहुआयामी अध्ययन प्रस्तुत किया है। अब इसे जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं की विशेषता कहें या जादू कि इनकी कविताओं से होकर गुजरने वाला हर पाठक उनकी कविताओं पर अपनी राय व्यक्त करने के उत्साह से भर उठता है। स्वयं मैं भी इन्हें पढ़ने के बाद लिखने की बेचैनी से भर उठता था। वैसे तो जितेन्द्र श्रीवास्तव पर लिखी गयी सभी समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन चैनसिंह मीना ने जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं का जिस धैर्य और समझदारी से सर्वतोमुखी अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह आश्चर्यचकित करता है। गहरी अंतर्दृष्टि और तत्वान्वेषी समझ के साथ लिखी गयी यह किताब जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता और कवि दोनों को विभिन्न आयामों में समझने के लिए एक दिशाबोधक कृति होने का आभास कराती है। तीस अध्यायों में विभाजित इस किताब में जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं के रचनात्मक अंतर्बाह्य को लगभग हर सम्भव आयाम से पढ़ने और पहचानने की गहरी कोशिश दिखती है। कवि ने अपनी तीस पैंतीस साल की सुदीर्घ काव्य यात्रा

के दौरान ऐतिहासिक महत्त्व के वैश्विक परिवर्तनों और प्रक्रियाओं को जितना और जिस तरह से अपनी कविताओं में दर्ज किया है, इस किताब में उसका लेखा-जोखा बड़े जतन से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस किताब के माध्यम से जितेन्द्र श्रीवास्तव की रचनात्मक दृष्टि और संवेदनात्मक परिव्याप्ति पर तो प्रकाश पड़ता ही है, कवि की नैतिक चेतना से भी हमारा परिचय होता चलता है।

इस कृति पर अपनी बात आगे बढ़ाने से पहले पुस्तक के शीर्षक पर दो शब्द कहना चाहूँगा। किताब का शीर्षक पाठकों को यह आश्वासन देता हुआ लगता है कि इस कृति के माध्यम से वह अपने समय के एक महत्त्वपूर्ण कवि के काव्यात्मक सरोकारों से सांगोपांग परिचित होने जा रहा है। यहाँ उसे कवि का अब तक का समग्र देखने को मिलेगा। दूसरी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस शीर्षक ने मुझे सोच-विचार का एक नया सूत्र थमा दिया। सूत्र यह कि विश्व या समाज जिसमें हम रहते हैं, वैसे तो वह सम्पूर्ण मानव जाति की साझी सम्पत्ति है, लेकिन फिर भी वह सबके लिए समान रूप से गम्य या उपलभ्य नहीं है। निरंतर श्रम और शोषण की चक्की में पिस रहे मजूदर का विश्वानुभव प्रकृति के संसाधनों पर काबिज प्रभुवर्ग के विश्वानुभव से बिल्कुल ही भिन्न होता है। अतः समग्रतः सबके लिए एक होकर भी यह विश्व सबके लिए एक जैसा नहीं है। स्त्री, दलित, मजदूर, किसान, विद्यार्थी, शोषक, शासित सबका अपना अपना विश्वानुभव होता है। इसलिए कहना चाहिए कि यह विश्व अनेक सच्चाइयों का समुच्चय है, जो बाहर से एक दिखते हुए भी भीतर से विभाजित है। अब सवाल यह है कि विश्व पहले ही अनेक तरह के जीवन-सत्यों में अंतर्विभाजित विश्व में स्वार्थों का जो घमासान जारी है, उसमें कवियों को किसके पक्ष में होना चाहिए, अथवा होना भी चाहिए या नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंतर्विभाजनों से ग्रस्त और परस्पर युद्धरत पूँजीवादी समाज में, प्रताड़ना, अवमानना वंचना और उपेक्षा का दंश झेल रहा दलित, आदिवासी, स्त्री, किसान और मजदूर का पक्ष ही समकालीन कविता का पक्ष है, और जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता भी निस्संदेह इसी वंचित समुदाय के प्रति प्रतिश्रुत है। लेकिन यहाँ यह पूछना अनिवार्य हो जाता है कि यदि सभी समकालीन कवियों की प्रतिश्रुति शोषित और वंचित के प्रति है तो उनकी संवेदना और सरोकार में निहित अंतरों की पहचान कैसे की जाय।

हम सब जानते हैं कि सरोकार और संवेदना के बिना कविता लिखना मुमकिन नहीं है। संवेदना और सरोकार ही वे मूलभूत तत्त्व हैं जिनके जरिये कोई कवि अपने समय और समाज में चल रहे घमासानों के साथ अपना सम्बन्ध परिभाषित करता है। यहाँ तक कि कविता में अनैतिकता और अनाचार का व्यापार भी इसी सरोकार और संवेदना की ओट में चलता है। इसलिए शोषण के खिलाफ और शोषित के पक्ष में कविताएँ लिखना ही नैतिक होने का प्रमाण नहीं है। एक ईमानदार और सच्चे संवेदनशील कवि की प्रतिबद्धता की पहचान केवल इस तर्क से की जा सकती है कि अपनी कविता में वह जिस शोषित वंचित के साथ खड़ा है, उसके साथ खड़ा होने का उद्देश्य या तकाजा कितना मानवीय और सार्वजनीन है। उसकी संवेदना का परिसर कितना संकीर्ण या विस्तीर्ण है। उसकी संवेदना जिस मजलूम के साथ है, उसकी मजलूमियत का पक्ष लेते हुए कहीं वह किसी अन्य मजलूम के प्रति अनैतिक तो नहीं हो रहा है? कवि की संवेदनशीलता और प्रतिबद्धता का गुह्य तात्पर्य यदि राजनीतिक या वर्गीय हुआ तो उसकी प्रतिबद्धता का दायरा तंग होने के साथ-साथ किसी हद तक अमानवीय भी होगा। यह सब कहना जरूरी इसलिए है कि हिन्दी कविता में प्रतिबद्धताओं की अन्यान्य श्रेणियाँ सक्रिय हैं और सभी प्रतिबद्धताएँ अपनी अपनी सीमा में कैद हैं। उदाहरण के लिए, दलित कवि की संवेदना और सरोकार स्त्री कवियों की संवेदना और सरोकार से पृथक होते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उनकी संवेदना और सरोकार मनुष्यता की भावना पर अवलम्बित न

होकर किसी अस्मितावादी राजनीतिक समझ से प्रेरित होते हैं। अभिप्राय यह कि जब हम कविता में संवेदना और सरोकार पर चर्चा करते हैं तो हमें उसके परिप्रेक्ष्य पर भी गौर करना चाहिए। दुर्भाग्य यह है कि आज की हिन्दी कविता का अधिकांश व्यापक मनुष्यता के धरातल पर अवलम्बित न होकर अस्मितावादी वैचारिकताओं से प्रत्युत्पन्न संवेदनाओं की कविता है। इसलिए वहाँ संवेदनागत विभाजनों को साफ-साफ लक्षित किया जा सकता है।

विभाजित संवेदनाओं वाले कवियों के सापेक्ष, सौभाग्य से हिन्दी में ऐसे भी कवि हैं जो संवेदनाओं और सरोकारों के कृत्रिम विभाजनों में विश्वास नहीं रखते और जिनकी संवेदना के सुविस्तीर्ण दायरे में हर वर्ग वर्ण जाति जेण्डर क्षेत्र और परिस्थिति के प्रति उदार मनुष्यता के धरातल पर अपना संवेदनात्मक संबंध स्थापित करता है। ऐसे कवियों की संवेदना स्वभावतः मनुष्यता की उदात्त भावना से निर्मित होती है, इसलिए वहाँ जीवन और जगत के सभी संदर्भ, उत्पीड़न और अन्याय की सभी परिस्थितियाँ मनुष्यता के संदर्भ बनकर उपस्थित होते हैं।

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं और उनके जीवन दर्शन पर केंद्रित चैनसिंह मीना की पुस्तक पर चर्चा के क्रम मे, अवांतर प्रसंग की तरह उपरोक्त विमर्श से गुजरना इसलिए जरूरी था कि यह वह मूल बिंदु हैं जिसे ध्यान में रखे बिना जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता का वैशिष्ट्य उद्घाटित करना कम से कम मेरे लिए मुमकिन न था। जहाँ तक मैं उनकी कविता से परिचित हूँ, पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि मनुष्यता ही वह प्रथम और अंतिम निकष है जिसे वह किसी भी जीवन संदर्भ के साथ अपना सरोकार स्थापित करने का आधार बनाते हैं। उनका कवि मनुष्यता के विराट भाव में अवस्थित एक ऐसा कवि है जिसके निकट जीवन जगत के सारे प्रश्न प्रथमतः और अंततः मनुष्यता के प्रश्न होते हैं। उनके यहाँ स्त्रियों दलितों, किसानों मजदूरों, छात्रों और तमाम दूसरी मानवीय इकाइयों के प्रश्न मनुष्यता का प्रश्न बन कर उपस्थित होते हैं। स्त्री दलित या मजदूर जीवन की विशेषीकृत समस्याओं पर केंद्रित होकर भी उनकी कविताएँ मनुष्यता की पक्षधर बन जाती है।

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं को पढ़ते हुए अकसर हमने अनुभव किया है कि उनकी प्रतिबद्धता किसी स्त्रीवादी, दलितवादी या जनवादी किस्म की प्रतिबद्धताओं से भिन्न एक ऐसी प्रतिबद्धता है जो किसी व्यक्ति वर्ग या समुदाय के हितों के प्रति प्रतिबद्ध होने तक सीमित न होकर सामान्यतः समूची मनुष्यता की गरिमा की चिंता करने वाली प्रतिबद्धता है। अन्यायी व्यवस्था के विरुद्ध उनकी कविता में निहित आक्रोश की तुलना बहेलिए द्वारा क्रौंच-वध से वाल्मीकि के भीतर उपजे करुणा जनित आक्रोश से की जा सकती है। यह वही बुनियादी करुणाबोध है, जो किसी साधारण मनुष्य को कविता की ओर उन्मुख कर देती है।

मुझे इस बात की खुशी है कि चैनसिंह मीना ने जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में व्यक्त करुणाजनित आक्रोश और बेचैनी को इसी अर्थ में समझने का प्रयास किया है। न केवल सही परिप्रेक्ष्य में समझा है बल्कि इसे ही जितेन्द्र श्रीवास्तव की सृजनात्मकता का केंद्रीय मर्म और ताकत मानकर उनके समूचे काव्य-कर्म का सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत किया है। पुस्तक की भूमिका में मीना ने इस तथ्य को प्रमुखता से स्वीकार किया है कि जितेंद्र श्रीवास्तव का काव्य निरंतर मनुष्यता के संधान का काव्य है। कवि ने जिस रूप में मानवीय सरोकारों को अपने कवि-दृष्टिकोण में रूपांतरित कर लिया है वह सूक्ष्मता से अवलोकन करने का विषय है।

जितेन्द्र श्रीवास्तव के वृहद काव्य वृत्त में स्त्रियों, दलितों, मजदूरों, किसानों, आदिवासियों, प्रकृति, पर्यावारण, परम्पराओं, मिथकों और नाना प्रकार के परिवेशों में रहने वाले लोगों के जीवन के विविध संदर्भ

चित्रित हुए हैं और चैनसिंह मीना ने इन सभी पहलुओं से जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं की वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ दोनों ही आयामों से पड़ताल की है। कविता को हमेशा पक्षधरता और प्रतिबद्धता के मुहावरे में पढ़ने और मूल्यांकित करने वाले आलोचक जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता में किसी स्थूल पक्षधरता की खोज कर सकते हैं, लेकिन चैनसिंह मीना ने वादों और मतवादों के चश्मे से जितेन्द्र श्रीवास्तव को पढ़ने का प्रयास बिल्कुल नहीं किया है। यदि पक्षधरता और प्रतिबद्धता के मुहावरे में बात करना ही अनिवार्य हो तो अधिक से अधिक कहा जा सकता है कि चैनसिंह मीना ने जितेन्द्र श्रीवास्तव को ऐसे कवि के तौर पर पहचानने का प्रयास किया है, विश्वपूंजीवादी मुनाफाखोर व्यवस्था का अपनी कविता में अनिवार्य प्रतिपक्ष जरूर रचता है, मगर पक्षधरता के नाम पर स्त्री को दलित से, दलित को आदिवासी से आदिवासी को किसान से और किसान को मजदूर से अलगाकर व्यापक मनुष्यता की स्थापना के महत् संघर्ष को हतोत्साहित नहीं करता। स्त्री दलित किसान मजदूर नाम रूपों में विभाजित अस्मिताओं के प्रश्न जितेन्द्र श्रीवास्तव की काव्य संवेदना के केंद्र में आकर मनुष्यता की गरिमा की रक्षा का साझा प्रश्न बन जाते हैं। विचारधाराएँ और अस्मितावादी संकीर्णताएँ स्वत: निरस्त हो जाती हैं।

यह देखना सुखद है कि चैनसिंह मीना ने जितेन्द्र श्रीवास्तव की काव्य-परिधि के विस्तार में सभी आयामों पर विस्तार से विचार किया है। उनका यह प्रयास सुखद इसलिए भी है कि उन्होंने, आलोचना के चालू मुहावरों का सहारा लेकर जितेन्द्र श्रीवास्तव को इस या उस धारा-विचारधारा या विमर्श से प्रेरित कवि के तौर पर पहचानने का दुराग्रह नहीं दिखाया है।

समीक्ष्य पुस्तक : 'कवि का विश्व'
लेखक : डॉ. चैनसिंह मीना,
प्रकाशक : कलमकार पब्लिशर्स प्रा. लि., नई दिल्ली
मूल्य : ₹ 750 (सजिल्द)
: ₹ 450 (पेपरबैक)

❑❑❑

पुस्तक समीक्षा

दलित आंदोलन में मनुवादी दलितों की नकारात्मक भूमिका

(संदर्भ : 'मनुवादी दलित' नाटक)

❍ हरिराम

हिंदी साहित्य में नाटकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। नाटकों को हम मंचन के द्वारा अधिक समझ सकते हैं। प्राचीन काल से लेकर अब तक नाटकों में अनेक बदलाव आए हैं। नाटक समाज में मनोरंजन के सबसे सशक्त माध्यम थे। इनका प्रभाव समाज पर सबसे अधिक था। आज सोशल मीडिया ने नाटकों को दबा दिया है।

यदि हम दलित नाटकों की बात करें तो ये बहुत कम लिखे गए हैं। दलित साहित्य में आत्मकथा, कहानी तथा उपन्यास तो लिखे जा रहे हैं, लेकिन नाटक बहुत कम। दलित नाटकों की कड़ी में जुड़ता सुरेश चन्द्र का नाटक '*मनुवादी दलित*' यह नाटक वर्तमान में दलित आंदोलन के रास्ते में रोड़ा बनने वाले दलित युवकों की भूमिका की बखिया उधेड़ता नजर आता है। इस नाटक में कुल छह अंक हैं, चौथे अंक में चार दृश्य हैं, बाकी सभी अंकों में तीन-तीन दृश्य हैं। हरेक दृश्य की भूमिका लेखक ने विस्तार से बताने की कोशिश की है। पात्रों का संवाद बोलचाल की भाषा में है, इससे नाटक मंचन में कठिनाई नहीं होगी।

लेखक ने नाटक की भूमिका में ही उसके केन्द्र बिन्दु को उजागर किया है। वे लिखते हैं कि, "*मनुवाद का यह रूप यदि समाज के सबसे निचले पायदान के लोगों का व्यवहार बन जाए तो उन्हें क्या कहा जाए? मैंने ऐसे लोगों को मनुवादी दलित माना है।*" (नाटक से पहले) प्राचीन काल से मनुवादी विचार दलित, आदिवासी और पिछड़ों के ऊपर हावी होते रहे हैं। आज भी निचले तबके से ऊपर उठने वाला व्यक्ति पीछे मुड़कर नहीं देखता, बल्कि वह भी सामंती जीवन की लालसा पाले रहता है।

'मनुवादी दलित' नाटक दलित बस्ती की भूमिका में बिखरा हुआ प्रतीत होता है तथा यह दलित राजनीति का जीता जागता सटीक उदाहरण है। जिसमें गरीबी में जीवन काट रहे, शिक्षित बेरोजगार दलित युवा अपनी ईमानदारी और विश्वास को छोड़कर राजनीति के दल-दल में फंसकर दलितों द्वारा दिया गया दलित जन उत्थान निधि (चंदा) की राशि को हड़प लेता है। दलितों के कंधों पर चढ़कर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे, दलित युवा नेता जो पहले गरीब ही थे लेकिन सवर्ण राजनेता से प्राप्त गुरुज्ञान से खाकपति से लखपति बन गए।

दरअसल, दलित आदिवासी और पिछड़े वर्ग में शिक्षित युवा मनुवादी संस्कृति को बढ़ावा दे रहे हैं। शायद वे धन, पद-प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि के लिए कहीं तक भी गिर सकते हैं। इसी तरह का चरित्र एक शिक्षक और साहित्यकार का दिखाया गया है। नाटक में राजनीतिक दल के जिला कार्यालय में कार्यरत एक दलित चपरासी का चरित्र है जो कि दलितों की सारी कमजोरियों को गैर दलितों में संप्रेषित करता है।

‘मनुवादी नाटक’ के पहले अंक में एक बौद्ध भंते कर्मशील गौतम का उल्लेख है, जिसका पूरा परिवार सरकारी नौकरी में है। कर्मशील गौतम दलित समाज के लिए कुछ नया करना चाहते हैं, उनका विचार है कि वे दलित विद्यालय और छात्रावास के निर्माण में सहयोग देना चाहते हैं। क्योंकि दलितों को शिक्षा से वंचित करने का प्रयास नया नहीं है। वे जानते हैं कि शिक्षा से ही समाज के अंधकार को मिटाया जा सकता है। इस अंक में नारी पात्रों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, जो कि कर्मशील गौतम के जन्मदिन के कार्यक्रम में अपना विचार भी रखती हैं। ये सभी नारी पात्र कर्मशील गौतम के परिवार से हैं। पहले अंक की भूमिका के बाद स्त्री पात्र नाटक से गायब दिखाई देते हैं। यदि संघर्ष की लड़ाई में स्त्री पात्र मुख्य भूमिका में होते और अंत तक चलते तो नाटक ज्यादा रोचक हो जाता।

नाटक के दूसरे अंक में राजनीतिक दल का जिला कार्यालय में सवर्ण राजनेता और दलित चपरासी मोतीलाल का संवाद तथा सवर्ण राजनेता के साथ दलित युवा नेता रामचंद्र भारती का संवाद, जो कि राजनीति की बारीकियों पर चर्चा कर रहे हैं। मनुवादी राजनेता ने दलित युवक को मनुवादी दलित बनने का प्रशिक्षण दे दिया है। अब वह पक्का राजनेता बन गया है।

नाटक के तीसरे अंक में रामचंद्र भारती की राजनीतिक चालबाजी काम कर जाती है और वह धन का लालच देकर दलित बेरोजगार युवक श्रवण सिंह और शिक्षक एवं साहित्यकार डॉ. एम. सिंह को सहयोगी बनाकर गाँव में बन रहा दलित विद्यालय और छात्रावास के चंदे की राशि का गबन करने की योजना बना लेते हैं। उन्हें पता है कि जो धन राजनीति से कमाया जा सकता है, उतना अन्य किसी तरीके से नहीं। इस संबंध में एक पात्र रामचंद्र भारती कहते हैं कि, “हमारे वोट के बल पर हमारे ही बीच के राजनेता और उनके चमचे कहीं से कहीं पहुँच गए। जिनके माँ-बाप ने भट्टों पर ईंट पाथी और घास बेच-बेच कर पेट भरे, आज उनके पास अनाप-शनाप संपत्ति है।” (पेज-39-40) यानी व्यक्ति पढ़-लिखकर सरकारी सेवा में आकर भी इतनी संपत्ति अर्जित नहीं कर सकता, जितना राजनेता कर सकता है। इसलिए हरेक व्यक्ति राजनीति में हाथ-पैर मारने की कोशिश करता है। राजनीति हमेशा शोषण, स्वार्थ और बाहुबल की रही है।

नाटक के चौथे अंक में गैर दलित राजनेता जो अब विधायक बन चुके हैं। वे विधायक निधि से दलित विद्यालय और छात्रावास को पाँच लाख रुपए की राशि इस शर्त पर देते हैं कि एक लाख रुपए का इनके घर कुत्तों को ए.सी. लगाने तथा पचास हजार रुपए उनके चपरासी मोतीलाल को उनकी लड़की की शादी के लिए देना है। दलित विद्यालय और छात्रावास के लिए भूमि पूजन में गणेश वंदना की जाए। विद्यालय और छात्रावास भवन में उनके नाम की पट्टिका स्वर्ण अक्षरों में लिखी जाय। वे पूरी तरह अपना दबदबा कायम रखना चाहते हैं। उधर, दलित बौद्ध परंपरा से धम्म पाठ द्वारा भूमि पूजन करवाना चाहते हैं। इस कार्य को विवाद से बचाने का मध्यम मार्ग मोतीलाल ने निकाला है कि ‘बौद्ध धर्म का धम्म पाठ और हिन्दू धर्म की गणेश वंदना एक साथ अलग-अलग कोने में की जा सकती है।’ चंदे की राशि केवल दलितों ने दी है। भूमि पूजन में मनुवादी व्यवस्था का विरोध आनंद कुमार अपने साथियों के साथ मिलकर करते हैं, जिन्हें मार भी खानी पड़ती है।

नाटक के पाँचवें अंक में दिल्ली के प्रसिद्ध प्रकाशक द्वारा प्रगति मैदान के विश्व पुस्तक मेले में डॉ. एम. सिंह के कविता संग्रह का विमोचन बड़ी रकम लेकर प्रकाशक द्वारा करवाया गया है। इसमें वक्ता भी रकम लेकर अपना विचार व्यक्त करते हैं। सारी रकम गाँव में बन रहे दलित विद्यालय और छात्रावास की निधि से भुगतान की जाती है।

नाटक के अंतिम और छठे अंक में मनुवादी और मनुवादी दलित राजनेताओं और उनके साथ गबन में

शामिल लोगों की करतूतों की पोल खुल जाती है। जो समिति विद्यालय और छात्रावास के लिए बनाई गई थी, उसके सदस्यों को गबन की भनक तक नहीं थी। इस अंक में मनुवादी और मनुवादी दलितों का वंचितों द्वारा पुरजोर विरोध किया गया है। लेकिन यहाँ पर दलितों की एकता और रणनीति का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इस संबंध में एक पात्र खुशीराम कहते हैं कि, "(आनंद कुमार से) बेटा। चलो गैर दलित मनुवादी और मनुवादी दलितों का गठजोड़ बहुत ताकतवर हो चुका है। इनकी संख्या अंबेडकरवादी दलित जनों पर भारी हो गई है। अब एक ही रास्ता है... न्यायालय का।" (पेज-94) उधर, विद्यालय और छात्रावास का भवन कम सीमेंट और अधिक बालू से तैयार हो गया। उसके उद्घाटन हेतु गैर दलित विधायक और मनुवादी दलित वहाँ पहुँच कर फीता काट देते हैं, और जैसे ही वे भवन में प्रवेश करते हैं, एकदम तेज भूकंप के झटके से विधायक सहित सभी मनुवादी दलित मलबे में दब जाते हैं। स्वर्ण अक्षरों में लिखी विधायक के नाम की पट्टिका पर कुत्ता पेशाब कर देता है। इस तरह नाटक का अंत हो जाता है।

मनुवादी दलित नाटक आज की दलित राजनीति में सक्रिय मनुवादी दलितों पर करारा प्रहार करता है। लेखक ने बिना लाग-लपेट के दलित समाज के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। नाटक में अंबेडकरवादी लोगों की भूमिका तो है, लेकिन वे संघर्ष करते नहीं दिखते, उनमें एकता और सूझबूझ का अभाव भी है। और वे मनुवादी दलित राजनीति के कारण पस्त हो जाते हैं। यह पात्र, चरित्र-चित्रण और देश-काल वातावरण की दृष्टि से समाज की सटीक व्याख्या करता है।

पुस्तक का नाम : मनुवादी दलित (नाटक)
लेखक : प्रो. सुरेश चन्द्र
प्रकाशन : साहित्य संस्थान, गाजियाबाद (उ.प्र.)
प्रथम संस्करण : 2019
कुल पृष्ठ : 96
मूल्य : ₹ 100

❑❑❑

किताबों की चर्चा

‘आप बीती : तैमूरलंग’, ‘चाणक्य के जासूस’, ‘डुमराँव नजर आएगा’ और ‘रंगायो जोगी कपड़ा’

प्रस्तुति : कमलेश वर्मा

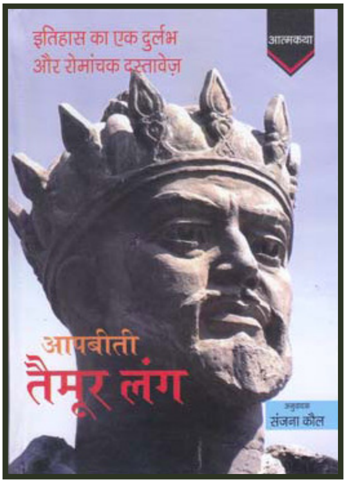

आपबीती : तैमूरलंग
अनुवाद : संजना कौल
संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2018
पृष्ठ : 548
मूल्य : ₹ 400

आपबीती : तैंमूरलंग

‘आपबीती’ शीर्षक यह किताब तैमूरलंग की आत्मकथा है। 70 साल की उम्र में तैमूर ने इसे फारसी में लिखा था। 1406 से ठीक पहले लिखित इस किताब का पहले अँग्रेजी अनुवाद छपा, फिर उर्दू अनुवाद और अब हिंदी अनुवाद! संजना कौल ने सरल और प्रवाहपूर्ण हिंदी में इस ग्रंथ का अनुवाद किया है। भाषा की सुंदरता इसे सुपाठ्य बनाती है।

14वीं शताब्दी के उस दौर की ढेर सारी जानकारियाँ इस किताब से मिलती हैं। तैमूर ने 1398 में दिल्ली पर चढ़ाई की थी और मारकाट मचाई थी।

मावरा-अल-नहर (ट्रांसऑक्सियाना) से लेकर ईरान और रूस के कई देशों के विवरण इस किताब को रोचक बनाते हैं। आज के अफगानिस्तान-पाकिस्तान के रास्ते तैमूर दिल्ली पहुँचा था। दर्रों से गुजरते हुए मेरठ, लोनी और जुम्बा के किलों से टकराते हुए वह दिल्ली पहुँचा।

इतिहास से मिलनेवाली जानकारियों से इस किताब का तालमेल कितना बैठता है, मैं नहीं जानता। मुझे आकर्षक बात यह लगी कि इसमें तरह-तरह की प्रकृति की जानकारी भरी पड़ी है, अनेक संस्कृतियों के लोग मिलते हैं, अनेक भाषाओं का जिक्र मिलता है। कई नाम इतने पुराने हैं कि आज की जगहों से उन्हें ठीक-ठीक पहचानने में काफी जानकारी बढ़ाने की जरूरत पड़ जाती है। तैमूर ने जाबिलिस्तान की चर्चा की है और लिखा है कि रुस्तम इसी देश का था। यहाँ के लोग बहुत लंबे थे, वे बैल पर उसी तरह बैठकर चलते थे जैसे घोड़े पर चलते हैं। अब ‘जाबिलिस्तान’ नाम सम्भवत: नहीं चलता है।

तैमूर ने रेगिस्तान और बर्फीली जगहों की खूब चर्चा की है। युद्ध-कौशल के अनेक प्रसंग उसने दिखाए हैं। उसने अपनी वीरता की कहानी तो सुनायी ही है, अपनी क्रूरता के तर्क भी गढ़े हैं। कत्लेआम की वजहों को बताते समय शायद उसने कुछ छिपाया नहीं है। वह खुद को विद्वान भी बताता है और धार्मिक भी!

वह स्वयं को धर्म और इतिहास का ज्ञाता मानता था। कुरान उसे कंठस्थ था, वह उल्टे क्रम से भी कुरान की आयतों का पाठ स्मरण से कर सकता था।

तैमूर ने अपनी बड़ाई खूब की है। पढ़कर हँसी भी आती है कि वह कितना आत्ममुग्ध था, मगर उसकी फतहें उसकी सजगता की निशानियाँ हैं।

भारत के बारे में जिस तरह के ब्यौरे इसमें मिलते हैं वैसी स्थितियाँ आज मौजूद नहीं हैं। मेरठ के रास्ते उसने घने जंगलों और बहुत बड़ी आबादी वाले हाथियों की चर्चा की है। जुम्बा के किले में पलने वाले लाखों साँप हैं, वहाँ केवल स्त्रियाँ हैं, वे शत्रुसेना के शिविर पर रात में अपने पालतू जहरीले साँपों को छोड़ती हैं।

तैमूर ने अछूत जातियों का जिक्र किया है, जिन्होंने तैमूर से अनुरोध किया कि उन्हें इस्लाम कबूल है। बदले में उन जातियों ने सुरक्षा, सम्पत्ति और शक्ति की माँग की। तैमूर ने उनका उपयोग सैनिक की तरह किया और भारत से लेकर क्वेटा तक उन्हें जमीनें दीं ताकि वे भूमिहीन न रहें। उन अछूत जातियों ने तैमूर से यह भी बताया कि आपके चले जाने के बाद हमारी सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी। दलित जातियों की बेबसी की दास्तान यह किताब भी अपने ढंग से बयान करती है। यह किताब उन जातियों के जुल्म की अप्रत्यक्ष गवाही देती है जिन्होंने दलित जातियों को मनुष्य होने के हक से वंचित कर रखा था।

इतिहास के निर्माण में जुल्म-ओ-सितम की भूमिका बहुत बड़ी है। इसमें शासकों, आक्रमणकारियों के जुल्म तो हैं ही, समाज के द्वारा कायम रखे गए जुल्मों की परंपरा बहुत मजबूत है।

तैमूर ने आदर्श लगनेवाली कुछ जगहों की भी चर्चा की है। ऐसा देश जहाँ के सभी लोग पढ़े-लिखे हैं और हर तरह के श्रम का काम करते हैं। एक देश ऐसा है जहाँ लोग दुकान में ताले नहीं लगाते हैं। एक ऐसा देश भी है जहाँ के लोग अपना वक्त बिल्कुल बर्बाद नहीं करते हैं। एक कबीले के लोगों की ऊँचाई इतनी ज्यादा है कि वे खड़े ऊँट की पीठ पर हाथ से सामान लाद देते हैं।

यह किताब जयशंकर प्रसाद की उस पंक्ति की याद दिलाती है कि 'सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है।' ❑❑❑

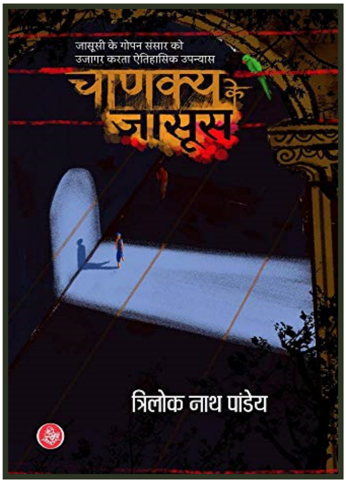

चाणक्य के जासूस

'चाणक्य के जासूस' (2020) त्रिलोक नाथ पांडेय का दूसरा उपन्यास है। इससे पहले वे 'प्रेमलहरी' लिख चुके हैं।

यह उपन्यास जासूसों और जासूसी के महत्त्व को रेखांकित करता है। यहाँ चाणक्य-चन्द्रगुप्त की कथा निमित्त मात्र है। लेखक ने इतिहास और साहित्यिक गल्प के सूत्रों का केवल उपयोग किया है। उसका असली उद्देश्य है जासूसी के राजनीतिक महत्त्व की स्थापना।

चाणक्य के जासूस
त्रिलोक नाथ पांडेय
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 343
मूल्य : ₹ 350

त्रिलोक नाथ पांडेय स्वयं भारत सरकार की गुप्तचर सेवा में कार्यरत रहे हैं और इस पेशे के अच्छे-बुरे

पक्ष के भोक्ता रहे हैं। यह किताब बताती है कि राजनीति में जासूसी एक अनिवार्य हथियार है। एक जासूस कभी–कभी अकेले या दो–चार जासूसों की सहायता से, वह काम कर बैठता है जो एक सेना भी नहीं कर पाती है। इस तरह की उपलब्धियों के बावजूद जासूस को सार्वजनिक रूप से वह सम्मान नहीं मिल पाता है जिसका वह हकदार है। उसका जीवन, कार्यवृत्त से लेकर उसकी भूमिका भी प्राय: गोपनीय होती है। इसलिए एक गुप्तचर के लिए यह भी संभव नहीं है कि वह अपनी उपलब्धियों और कार्यप्रणाली को सार्वजनिक कर सके।

'चाणक्य के जासूस' में देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों–जैसा पाठकीय आनन्द मिलता है। रोचक शैली में कथा कहने की भरपूर क्षमता त्रिलोक नाथ जी की कलम में है। जिस कालखंड की यह कथा कही गयी है, उसके अनुकूल भाषा रचने का भरपूर प्रयास लेखक ने किया है। तत्समप्रधान शब्दावली के बावजूद इस उपन्यास की भाषा की संरचना आज के अनुकूल है। इसलिए इसे पढ़ते हुए न तो कठिनाई महसूस होती है और न ही यह लगता है कि कथा के कालखण्ड और भाषा के कालखण्ड में कोई वैषम्य उपस्थित हुआ है।

अपनी उम्र के लिहाज से त्रिलोक नाथ पांडेय ने उपन्यास लिखने की शुरुआत देर से की है, मगर वे सिद्ध किस्सागो की तरह रचते हैं।

हिंदी उपन्यासों की संख्या इधर बढ़ती जा रही है, मगर ज्यादातर में कथा की रोचकता का अभाव है। अपनी बात को कहने का सलीका कम ही उपन्याकारों में है। इस संदर्भ में किसी उपन्यासकार का नाम लेना ठीक नहीं है। समय के साथ सही–गलत का निर्णय हो जाया करता है। कई लेखक 'अन्य कारणों' से अपना नाम प्रचारित कर लेते हैं, मगर बचता वही है जिसे लिखना आता है।

'चाणक्य के जासूस' को इसलिए न पढ़ा जाए कि इसमें चाणक्य–चन्द्रगुप्त की कोई नयी कहानी मिल जाएगी। इसे इतिहास की जानकारी के लिए भी न पढ़ा जाए। हम सब जानते हैं कि 'चाणक्य' एक साहित्यिक पात्र रहा है, न कि ऐतिहासिक! हो सकता है कि 'मुद्राराक्षस' के लेखक विशाखदत्त की पृष्ठभूमि में भी गुप्तचरी का काम रहा हो, जिस तरह से त्रिलोक नाथ पांडेय की पृष्ठभूमि में रहा है।

'चाणक्य के जासूस' उपन्यास गुप्तचर की सफलता–असफलता के सुख–दुख से जुड़ा है। एक गुप्तचर अपनी सफलता का सुख सबको बता नहीं सकता और असफलता उसे यातना से लेकर मृत्यु तक दे सकती है। वह अपने देश के लिए यह सब करता है, मगर गुमनामी के साथ। उसकी देशभक्ति के गवाह केवल उसके ऑफिसर या साथी हो पाते हैं। अपने देश की जिस जनता के लिए वह अपने प्राणों की बाजी लगाता है वह जनता उस गुप्तचर को बिल्कुल नहीं जान पाती है।

अप्रसिद्धि की नियति के साथ देश की सेवा करना गुप्तचरी की कार्यपद्धति है।

इस किताब में त्रिलोक नाथ पांडेय का निजी अनुभव छिप–छिपकर बोल रहा है। वे गुप्तचरी का शास्त्र इसमें लिख देना चाहते हैं। इस उपन्यास के गुप्तचरों की ट्रेनिंग में उनका मन खूब रमा है। इस झुकाव में उनका प्रशिक्षक मन प्रतिबिम्बित होता है। एक गुप्तचर की बेबसी है कि वह अपने इन अनुभवों को अन्य की कथा के सहारे व्यक्त कर सकता है। यहाँ 'आत्मकथा' को 'अन्यकथा' बनाना पड़ा है।

❑❑❑

“शैदा नजर की रौशनी बढ़ती है चाय से
डुमराँव नजर आएगा मुगलसराय से”

चंद्रेश्वर ने अपनी एक कविता में इस शेर का इस्तेमाल करते हुए अपने नए काव्य-संग्रह का नाम रखा है- ‘डुमराँव नजर आएगा’ (2021)

अब मुगलसराय रहा ही नहीं। वह संस्कृति के नाम पर राजनीति का शिकार हो गया। चाहे कितनी भी चाय पी लीजिए, अब आप न तो मुगलसराय को ढूँढ़ पाएँगे और न ही डुमराँव को वहीं से खड़े-खड़े देखने की संभावना रह गयी है।

यह संग्रह ऐसी कविताओं से भरा पड़ा है जिनमें ‘मुगलसराय’ की तरह अनेक चीजों के खो जाने का दर्द समाया हुआ है। साथ ही यह भी दर्ज है कि अब ‘डुमराँव’ भी ठीक से नजर नहीं आता। इन सबके लिए कवि ने मुख्यतः राजनीति को दोषी ठहराया है। मगर वह सचेत है कि खोती जा रही विरासतों के बीच अनेक गुनहगार अपना चेहरा ढँके हुए हैं। उसकी शिकायत कवियों से भी है। कुछ ‘सुरक्षित कवि’ हैं जो किसी भी तरह की राजनीतिक धारा के बीच फलते-फूलते रहते हैं। कवि ने ‘कामयाबी का राग’ बताया है कि किसी विचार पर अड़ना छोड़ दो,

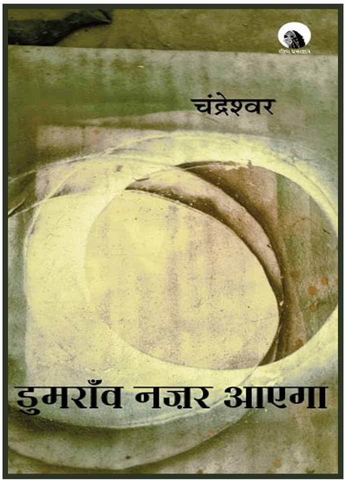

डुमराँव नजर आएगा
लेखक : चंद्रेश्वर
रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2021
पृष्ठ : 148
मूल्य : ₹ 280

“कुछ दक्षिण-दक्षिण, कुछ वाम-वाम
कुछ नाम-नाम, कुछ दाम-दाम, कुछ राम-राम
शाम की महफिल में कुछ जाम-जाम”

चंद्रेश्वर कहते हैं कि एक कवि में यह हिम्मत होनी चाहिए कि वह ‘चंदा को चंदा, गंदा को गंदा’ कहे! यह कहते जरूरी नहीं कि वह किसी खास पार्टी की राजनीति के कारण कहे! पार्टी की राजनीति के आधार पर कही गयी कवियों की बातें झूठी हो जाया करती हैं! इस संग्रह का कवि जितना सावधान नेताओं से है उतना ही कवियों से भी! नेताओं की भूमिका पर ऊँगली उठना कोई नयी बात नहीं है, मगर कवियों की भूमिका पर पहली बार इतनी बड़ी संख्या में कविता लिखकर शायद चंद्रेश्वर ने ही ऊँगली उठायी है। कुछ कविताओं को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है - ‘अंधा कुआँ’, ‘एनकाउंटर पर तुकबंदी’, ‘पद्मश्री गोपालदास नीरज को पता था’, ‘कवियों की पूरी पृथ्वी’, ‘ये हमारा वक्त’, ‘किसी एक फूल का नाम लो’, ‘ढहना’, ‘क्रियाएँ’ आदि।

हम सब के पास ‘डुमराँव’ है। यह ‘डुमराँव’ हमारा सपना है, मनोकामना है, आदर्श है, प्रियतर है, मोहक है, आकांक्षा है आदि-आदि। इन्हें नष्ट किया जा रहा है। नष्ट करनेवाला उन्माद ही नहीं फैला रहा, बल्कि प्रतिरोध की हर कोशिश को नाकाम-बदनाम करने में सफल भी हो जा रहा है। अपने ‘डुमराँव’ को बचाने की कोशिश में एक कवि की जो भागीदारी हो सकती है, चंद्रेश्वर ने उसी का बयान अपनी ज्यादातर कविताओं में किया है।

इस संग्रह में कुल 80 कविताएँ हैं, जिनमें कुछ दूसरे रंग भी हैं। चंद्रेश्वर का मन मूलतः राजनीतिक

कविताओं की तल्खियों में लगता है। वे तल्ख व्यंग्य करते हैं। राजनीतिक विरूपताओं पर कविता लिखते समय उनकी त्वरा तीखापन लेकर काव्य-भाषा का संधान करती है। वे मूलतः ग्रामीण मन के कवि हैं। इसलिए ऐसे प्रसंगों पर उनकी काव्य-भाषा में गाँव की मजा लेती हुई वक्रता प्रकट होती है, जैसे –

"अब तो बेनकाब हो
मोर राजा
पियत रहो गाँजा...
चिलम लहका के...!"

उत्तर प्रदेश के बलरामपुर में रहनेवाले, डुमराँव के इस भोजपुरिया मन के कवि की इन पंक्तियों के संकेत को आसानी से समझा जा सकता है।

चंद्रेश्वर की काव्य-भाषा साफ-सुथरी और बेहिचक है। वे हकलाती हुई या धुँधली भाषा का उपयोग अपनी कविताओं में नहीं करते हैं। मगर उनकी कविताओं में कुछ ऐसी काव्य-वस्तुओं को भी उठाया गया है जहाँ कविता का निर्वाह मुश्किल से हो पाया है; जैसे – 'बारहमासा'। ऐसी कविताओं की संख्या कम ही है। मुझे लगता है कि उनके कवि-रूप का सबसे सशक्त पक्ष राजनीतिक कविताओं में उभरता है। इस दृष्टि उनका पहला काव्य-संग्रह 'सामने से मेरे' ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह में 80 कविताएँ हैं, जिनमें स्वर की विविधता ज्यादा हो गयी है। इसके कारण इस संग्रह का प्रभाव थोड़ा बिखर गया है।

❑❑❑

रंगायो जोगी कपड़ा

देवेंद्र आर्य का नवीनतम काव्य-संग्रह है– 'रंगायो जोगी कपड़ा' (2022)। इसके 104 पृष्ठों में कुल 51 कविताएँ हैं। इसमें कुछ ही कविताएँ थोड़ी लंबी हैं।

देवेंद्र आर्य प्रौढ़ कवि हैं। उम्र के लिहाज से नहीं कह रहा, काव्य-वस्तु के साथ ट्रीटमेंट के लिहाज से कह रहा हूँ। इस संग्रह में उठाए गए ज्यादातर विषयों के साथ उनका व्यवहार 'प्रौढ़' है।

राजनीति, विचारधारा, जीवनानुभव, दाम्पत्य प्रेम, परिवार और स्वयं कविता के बारे में लिखी गयी इन कविताओं में जो भाव-भंगिमाएँ आयी हैं उनमें कमाल का प्रभाव है।

एक उदाहरण देखा जा सकता है, 'हम दो/हमारे कोई नहीं' (पृष्ठ – 65)। 'हम दो, हमारे दो' के नारे से हमलोग परिचित हैं। मगर कवि ने अपने जीवन के दुःख को ऊपर की पंक्तियों में जिस सादगी से व्यक्त किया उसकी दर्दभरी सुंदरता महसूस करने लायक है।

यह संग्रह मूलतः राजनीतिक स्वभाव का है। राजनीति के पेंचों को जीवन के संदर्भ में समझने की बारीकी ने कवि की कविताओं को प्रौढ़ता दी है। देवेंद्र जी सजग भावुकता के साथ कविता लिख

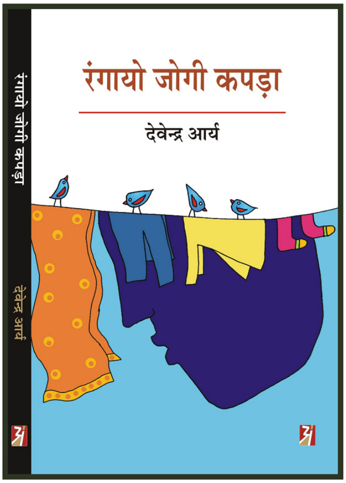

रंगायो जोगी कपड़ा
लेखक : देवेन्द्र आर्य
अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद 2022
पृष्ठ : 114
मूल्य : ₹ 280

रहे हैं। उन्हें जीवन, राजनीति या कविता को लेकर कोई भ्रम नहीं है। वे इन कविताओं में न तो भावशून्य वैचारिक हैं और न ही विचारशून्य भावुक!

'मन न रंगायो' शीर्षक कविता से इस संग्रह का नाम रखा गया है 'रंगायो जोगी कपड़ा'। 'जोगी' शब्द आज राजनीतिक अर्थ रखने लगा है। मगर देवेंद्र जी की इस कविता में केवल राजनीतिक चिंता नहीं है। वे पर्यावरण, स्वास्थ्य, स्त्री से लेकर कविता तक के सच को जानने-समझने के लिए जरूरी मानते हैं कि मन का रँगाना बहुत जरूरी है। कवि का जोर इस बात पर है कि जो भी करते-कहते हो, मन से करो और मन से कहो!

देवेंद्र जी राजनीति और कविता, दोनों की आलोचना करते हैं। वे उन कवियों में से नहीं हैं जो राजनीतिज्ञों को तो ढेर सारी कसौटी देते हैं और अपनी कविता के लिए किसी भी कसौटी को मानना नहीं चाहते। जैसे राजनीति को हम लोक-कल्याणकारी बनाए रखना चाहते हैं वैसे ही कविता को भी तो जनता के बीच पहुँचने लायक बनाने का श्रम कवि को करना चाहिए। 'कवि की समाज से नहीं पटती' शीर्षक आज की कविता की आलोचना ही तो है। इसमें एक पंक्ति है,

'कविता का पठनीय होना स्वयं एक क्रांति है'।

कवि चाहता है कि कविता और समाज के बीच आवाजाही का रिश्ता बने! कवि खुद को इतना श्रेष्ठ न समझे कि समाज से दूर हो जाए! वह अपनी कविता के सहारे, अपनी कविता की भाषा में समाज को कुछ इस तरह शामिल करे कि समाज उसे पढ़ना-सुनना चाहे! इस संदर्भ में 'बोलो कवि' शीर्षक कविता में भी देवेंद्र जी ने अपने साथी कवियों को खूब खरी-खोटी सुनायी है।

देवेंद्र जी के इस संग्रह की कविताएँ इतनी प्रौढ़-परिपक्व हैं कि आज की 'प्रचलित बातों' को आप उनमें प्राय: नहीं ढूँढ सकते हैं। वे कई बार प्रचलित बहस को बदलकर नया रूप दे देते हैं।

'औरत पैदा होती है बनाई नहीं जाती' शीर्षक कविता में स्त्री के महत्त्व को पुरुष के विरोध के रूप में नहीं देखा गया है। दोनों के स्वभावगत पक्षों पर ज्यादा बात की गयी है। दोनों के प्रकृतिगत मूल स्वभाव के साथ मिलजुलकर विकसित होने का पक्ष लिया गया है।

इसी तरह एक और कविता का जिक्र किया जा सकता है, 'कबीरदास की लाइब्रेरी'। नया मोड़ देते हुए देवेंद्र जी लिखते हैं कि कबीर ने अपने पढ़े-लिखे होने की बात इसलिए छिपायी होगी कि वे साधारण लोगों तक अपनी बात पहुँचा सकें। 'पढ़ा-लिखा होना' मानो हमें अपनों से दूर करता है।

बहुत खूबसूरती से अपनी बात कहने का हुनर रखनेवाले देवेंद्र आर्य की ये कविताएँ हिंदी कविता को समृद्ध कर रही हैं। इन कविताओं की प्रौढ़ता नयी पीढी के कवियों को कला और विचार सिखा सकती है। भाषा के अनुशासन और स्वशासन की अच्छी मिसाल हैं ये कविताएँ!

❑❑❑

Research Paper

Role of Media & Panchayat in Covid-19: A Sociologycal Analysis

❍ **Ghanshyam Kushwaha**
❍ **Ramod Kumar Maurya**

Abstract:

India is second largest populous country in the world after China.As per Census 2011, India, the rural population formed 68.84 percent of the total population with the urban population constituting 31.16 percent. The rural population constitutes more than double of urban population. The outbreak of COVID-19 pandemic has an unprecedented impact on human health worldwide. Hence, it became crucial to prevent rural people from epidemic.Its outbreakcompelled us to think about our monitoring policy where the panchayat became the prim-most important tools and media played crucial role to bridge the gap between government and the mass. Being the largest democracy in the world India has its decentralization nature of power where panchayats have been empowered with such notion that it formed the basic fundamental of grassroot democracy. This paper analyses the role of Panchayat and media in tackling the Covid-19.

Introduction:

> "Only that man can be said to be really healthy who has a sound mind in a sound body. The relation between the body and the mind is so intimate that if either of them goes out of order the whole system would suffer."
>
> -Mahatma Gandhi
> -Key to Health, 1942-440

India is the largest democracy in the world. Governance of the largest democracy where about 130 crores people live, is not an easy task. Thereby, the strata of administration can be simplified as Centre, states, district, blocks and village level. At the very local level Panchayats have been the backbone of Indian democracy. Panchayati Raj system was adopted to decentralize the power whereby the people from grass-root level exercise the same for their betterment. The local leadership which is also the largest in the world, has become very crucial at the time of corona pandemic. With the outbreak of Corona Virus (COVID-19) the role of media as well as panchayats has become prominent.Media, especially mass media are defined as large-scale organizations which use one or more of these technologies to communicate with large numbers of people.[1]

As soon as lockdown was declared by the Indian government, mass media started promoting hand hygiene and other preventive measures. We all are well aware that this disease was brought by the abroad. Since, in its early times it was confined to urban areas but after suddenly imposed of lockdown made it visible to rural areas also. Because due to lockdown school, colleges, universities, institutions, factories, mall, shops were remained closed and the working people including workers and migrant people started returning to their respective villages. This led the corona infection spread at high level. In this regard village panchayat got great attention at institutional level to tackle this problem.

According to the projection report of the World Bank July, 2021, "rural population (% of total population) in India was reported at 65.07 % in 2020. Still a big size of the Indian population lives in village."[2] And the biggest problem that India face is the unemployment. According to a joint statement issued by International Labour Organization, Food and Agricultural Organization and World Health Organization on 13 October 2020, "The COVID-19 pandemic has led to a dramatic loss of human life worldwide…millions of enterprises face an existential threat. Nearly, half of the world's 3.3 billion global workforce are at risk of losing their livelihood…without the means to earn an income during lockdowns, many are unable to feed themselves and their families."[3]Due to non-availability of fixed and permanent employment in rural areas, people as migrant workers move towards the cities. But, due to outrage of corona pandemic, these people started returning to their respective villages. This became even more worse when pandemic situation resulted into the shut down of the factories, malls, public markets and all the concern institutions. The novel corona being infectious disease transmitted through cough, sneezes and other touchable means become an unseen foe.This pandemic disease reached to the rural areas with the migrant worker and others with corona positive traits. Almost every house has been hit by this novel coronavirus in the second wave. It was however, expected that this novel corona-virus would contain four stages of transmission- in line with other infectious diseases:

Stage 1 is the first appearance of the disease through people with a travel history, with everyone contained, their sources traced, and no local spread from those affected.

Stage 2 is local transmission, where the infected have a travel history and spread the virus to close friends or family. At this stage, every person who came in contact with the infected person can be traced and quarantine or isolated.

Stage 3 is the community transmission, where infections happen in public places and the source of virus cannot be traced. At this stage, geographical lockdowns become important because random members of the community start developing the disease.

Stage 4 is when the disease actually becomes an epidemic in a country, such as it was in China, with large numbers of infections and a growing number of deaths with no end in sight. It is then considered to be endemic or now prevalent in the region.

During the lockdown period, both, the central as well as state governments made quick pace to strengthen the institutional capacity to tackle the Corona cases in terms of infrastructure development and capacity building. Meanwhile, Mass media including Facebook, Instagram, twitter, WhatsApp etc., played a very crucial role in generating awareness among the masses and in the dissemination of the Government orders/guidelines to the health workers, sanitation workers, including the police and panchayat members at grassroots levels. Now, another corona variant named 'Omicron' infection is on upsurge.

"The WHO declared Covid-19 a global pandemic on March 11, 2020. From this day, media started constant reporting on COVID which created anxiety among the public, leading to impulsive buying of hand sanitizers, face masks, and daily need products. Simultaneously, media started covering the shortage of personal protective equipments (PPE) for health care workers. This coverage helped in putting masks and sanitizers under the essential commodities act."[4]

The Covid-19 pandemic has been accompanied by a so-called "infodemic"- a global spread of misinformation that poses a serious problem for public health. Infodemics are concerning because the spread of false or misleading information has the capacity to change transmission patterns (Kim et al., 2019) and consequently the scale and lethality of a pandemic. This information can be shared by any media, but there is reason to be particularly concerned about the role that social media, such as Facebook and Twitter, play in incidentally boosting misperceptions."[5]

As the panchayat already plays a role in providing and monitoring the health and sanitation, Swasthya Sanchar foresees a key role of the panchayat in disseminating health knowledge in their village. Mohanty (2014) writes that, 'health knowledge is available in various forms. There are books, booklets, pamphlets, brochures etc., obtained in many different languages that bring within the reach of people. Who buys those materials available in print, particularly, if it is about health and illness? Not many people buy a book on the health issues. They may invest in a cine magazine, a fashion magazine or a magazine on fancy cars and watches, but very few households actually buy any books or magazines related to health unless some near and dear one suffers from a particular disease or there is an epidemic and one feels the urgent need to know about that particular epidemic disease.'[6]

Role of Village Panchayat and Media:

Village India too had its share of hardship during the pandemic. Also, village panchayat along-with media played very crucial role to transmit the information and guidelines issued by the government. Local authorities like, B.D.O. and Gram Pradhan were advised to provide the entire necessary requirement regarding foods and essential items to village people. People coming from urban areas are being quarantine in local schools or proper place to avoid such transmission to other people who are not affected. More than thirty-five lakhs of active cases of covid-19 and more than 6300 deaths were reported till 30thAugust 2020. Now, the number of deaths has been exceeded to more than four lakhs by the end of June 2021. To tackle this condition the role of Gram Pradhan, Gram Sachiv, Gram Sewak, Asha worker, Anganwadi, ANM as corona worriers becomes very prominent. Their ability to connect with the vulnerable masses through strong community mobilization and social media with a focus on awareness generation about health, hygiene and nutrition, and benefits of various government programs, among others, makes them effective leaders who can play constructive roles in containing the Covid-19 spread.

Quality health education is needed to empower people to make right decisions about their own health and the health of those close to them.In this way there is importance of strengthening the local panchayats. There is extensive health-related information available in the print media, radio and television. However, there is hardly any health information available to individuals on demand that people can access as and when they want to at their own convenience. Gross domestic healthcare knowledge base is a concept where we want to make health information available to each individual at his or her domestic residence or at least within reach in the village or locality where they reside. They can also talk to a doctor in their own dialect. This health information will be available on demand whenever and wherever the individual wants to access it. Providing such information to each village is possible only with the cooperation of the respective panchayat members.

Role of Panchayat Women leaders during Covid-19:

Recently, stories from rural women leaders have been in news during this corona epidemic. Sarpanch of Bhadsiya gram panchayat Sarpanch, Radha Devi ofNagaur tehsil, Rajasthan, taking up pivotal roles to protect rural India from succumbing to the Covid-19 crisis. They started working in the direction to make aware people from corona disease since the beginning of the nationwide lockdown in March 2020. Guided by block and district administrative bodies, these women leaders, with support from the panchayat secretaries and key persons of their respective villages, are designing and implementing local solutions to ease out people trouble during lockdown.[7]

Another successful story of Manglesh, a panchayat member of Kalsara village, Alwar, Rajasthan when sarpanch and panchayat secretary in their monthly panchayat meeting confirmed the onset of Covid-19 in March 2020 and asked them to gear up. With her limited knowledge and instruction given by sarpanch, she actively participated in protecting the families residing in her ward.

She also served as a connecting link between the community members and healthcare professionals including Accredited Social Health Activist (ASHA) workers and team of doctors from the health department.[8] She also helped them in door-to-door household surveys and check-ups. She took this opportunity to interact with rural women and guided them to maintenance of good personal hygiene, special care for children and others.

Awareness generation in the community:

Many more cases were witnessed from different part of the rural country where women were actively involved in generating awareness against corona pandemic and doing their best as they could do. Sita Devi, panchayat member of Ladaura village, Kalyanpur, Bihar, made house-to-house visits in her ward to make people, especially women, aware about the government guidelines pertaining to Covid-19 prevention. She took charge of informing the families residing in her ward about do’s and don’ts, including following of physical-distancing norms, hand-washing and use of soaps, maintaining daily hygiene at personal and household levels, keeping surroundings clean, keeping a watch on outsiders, not allowing outsiders inside homes, avoiding crowded places, and many more.[9] Women were the fore-frontiers in monitoring and process of sanitization.

Chandrakala Devi, sarpanch of Panchnota village, Mahendergarh, Haryana, organized and monitored the process of sanitization of the entire village. She maintained strict vigilance on labourers returning back to the village and sent them to Narnaul tehsil for check-up as per guidelines issued by the block authorities.

Stories like these undoubtedly showcase the agency and engagement of women leaders of gram panchayats in Covid-19 prevention and protection, but these are meagre in number compared to the vast number of elected women representatives in India.

It was observed that these women leaders were prominent in from generating awareness on government guidelines for Covid-19 prevention in the community, to linking health workers with the households, from enrolling for livelihood opportunities, benefiting them to food security programs and active role in surveillance. In this situation, the role of women elected representatives has become extremely critical.

With panchayats emerging as front warriors in the collective fight against COVID-19 pandemic, Prime Minister's address to key members of rural self-government institutions cannot be overemphasized. As has been reported, from different parts of India, panchayats across the country have been playing vital roles in containing coronavirus spread. Panchayats in Kerala are on the forefront of coordinating government in tracing, organizing health checkup camps, sanitation, physical distancing messages among others. Panchayats have been playing an important role in sustaining agricultural activities by ensuring the labour supply and availability of food supply chains in villages.

Many more states Governments have tackled this pandemic with the help of their respective Panchayati raj institutions. Using Section 51 of the National Disaster Management Act, 2005, Government of Odisha has empowered sarpanch to ensure quarantine of returnees and their families. To ensure a decentralized way of tackling pandemic, states governments have ensured Gram Panchayats with registry facility and mechanisms for community-based monitoring. In short, panchayats have emerged as 'frontline warriors' institutions to check out the spread of virus. The roles of these institutions are going to even more strong in the post-lockdown stage requiring considerable mitigation efforts.

***Conclusion**:*

We need to have along-term sustainable strategy to address the challenges facing the Rural health sectors. Priority should be given to addressing underlying food security and malnutrition challenges, tackling rural poverty, in particular through more and better jobs in the rural economy, extending social welfare protection to all. Panchayat should be given more power in terms to boost up 'vocal for local' including empowering our youth, women, scheduled castes, scheduled tribes, differently-abled, economically weaker sections and everyone. The media, along with the panchayat, should realize the responsibility of providing correct information to the general public so that confusion does not arise among them.For a better future, all of us should sincerely follow our duties and responsibilities towards our society and country. If we can do this, then we can deal with any epidemic in a much better way.

References:

1. Marshal, Gordon ed. 2007 (reprint). *Dictionary of Sociology*. Oxford University Press. Indian Edition.
2. https://tradingeconomics.com/india/rural-population-percent-of-total-population
3. https://www.who.int/news/item/13-10-2020-impact-of-covid-19-on-people's-livelihoods-their-health-and-our-food-systems
4. https://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC8219014/
5. https://misinforeview.hks.harvard.edu/article/the-causes-and-consequences-of-covid-19-misperceptions-understanding-the-role-of-news-and-social-media/
6. Mohanty, Bidyut ed., 2014. *Panchayats Women and Health for All*. Concept Publishing House, New Delhi. p. 86.
7. https://www.indiawaterportal.org/articles/elected-women-leaders-gram-panchayats-critical-roles-covid-19-response
8. https://www.indiawaterportal.org/articles/elected-women-leaders-gram-panchayats-critical-roles-covid-19-response
9. https://www.indiawaterportal.org/articles/elected-women-leaders-gram-panchayats-critical-roles-covid-19-response

❑❑❑

लेखक परिचय एवं संपर्क :

- प्रो. गोपेश्वर सिंह : प्राध्यापक (अवकाशप्राप्त), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; संपर्क : 8826723389
- चितरंजन भारती : फ्लैट नं. 405, लक्ष्मीनिवास अपार्टमेंट, जगतनारायण रोड, कदमकुआँ, पटना-3; मो. 9401374744
- संगीता मौर्य : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजकीय महिला स्ना. महाविद्यालय, गाजीपुर, उ.प्र.; मो. 9026115390
- प्रतिभा प्रसाद : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, कुल्टी कॉलेज, पश्चिम बंगाल, पिन : 713343
- ब्रज बिहारी पांडेय : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी, ओरिएंटल कॉलेज, पटना सिटी, पटना।
- चंद्रबिंद सिंह : स्नातकोत्तर शिक्षक, हिंदी, केन्द्रीय विद्यालय, खगौल; संपर्क : 9631074501
- अरविंद कुमार : एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना; मो. 9835681230
- रानी सिंह : बर्नपुर, पश्चिम बंगाल।
- चुम्मन प्रसाद : सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, भवंस मेहता महाविद्यालय, भरवारी, कौशाम्बी, उ.प्र. 212201; संपर्क : 7972465770
- राजकुमार : शोधप्रज्ञ, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; संपर्क : 7678611466
- कपिल देव : 11E, सिद्धार्थ नगर कोलोनी, तारामंडल रोड, गोरखपुर।
- हरिराम : 24बी, गली नं. 2, ब्लॉक ई एक्सटेंशन, श्यामबिहारी फेस 1, नजफगढ़, नई दिल्ली, पिन : 110043; संपर्क : 8826541819
- घनश्याम कुशवाहा : असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, पं. दीनदयाल उपाध्याय राजकीय महिला स्नातक महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी, उ.प्र.।
- रमोद कुमार : एसोसिएट प्रोफेसर, समाजशास्त्र, केशव प्रसाद मिश्र राजकीय महिला स्नातक महाविद्यालय, औराई, भदोही, उ.प्र.।

rawpixel

"Merciless criticism and independent thinking are the two necessary traits of revolutionary thinking."

- *Bhagat Singh*